पद्मासनस्थिते देवि परब्रह्मस्वरूपिणि । परमेशि जगन्मातर्महालक्ष्मि नमोऽस्तु ते ॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अक्टूबर १९८४

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें १० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ५२.०० रु०
(३ पौण्ड ५० पेंस)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

सीता - राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ } गोरखपुर, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अक्टूबर १९८४ ई० { संख्या १० पूर्ण संख्या ६९५

रघुबीर-छबि

आजु रघुबीर-छबि जात नहिं कछु कही ।
सुभग सिंहासनासीन, सीतारवन,
भुवन-अभिराम, बहु काम सोभा सही ॥
मुकुट सुंदर सिरसि, भालबर, तिलक-भ्रू,
कुटिल कच, कुंडलनि परम आभा लही ।
मनहुँ हरडर जुगल मारध्वजके मकर
लागि स्रवननि करत मेरुकी बतकही ॥

(गीतावली)

कल्याण

श्रीभगवान् परम आनन्द और परम शान्तिके समुद्र हैं। उन श्रीभगवान्‌के साथ तुम्हारा सम्बन्ध जितना ही बढ़ता जायगा, उतना ही आनन्द और शान्ति भी तुम्हारे अंदर बढ़ते जायँगे।

फिर तुम जहाँ भी जाओगे, आनन्द और शान्तिको साथ लेते जाओगे और तुम्हारे आनन्द तथा शान्तिसे जगत्‌के प्राणियोंको भी यथायोग्य आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी।

साथ-ही-साथ तुम भी क्रमशः अधिक आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति करते जाओगे; क्योंकि तुम्हारा हृदय हर समय, हर स्थानमें उनका आकर्षण करता रहेगा।

तुम्हारे हृदयका द्वार जिसके लिये खुला होता है, तुम्हें वही वस्तु मिलती है। और जो वस्तु अंदर होती है, उसीको अधिक पानेके लिये हृदयका द्वार भी खुला रहता है।

तुम यदि आनन्द और शान्ति चाहते हो तो आनन्द और शान्तिके सागर भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ो, तुम्हारे हृदयमें आनन्द और शान्ति आवेगी और ज्यों-ज्यों वह जगत्‌में फैलेगी त्यों-ही-त्यों तुम्हारे अंदर भी बढ़ती जायगी।

तुम यदि भगवान्‌के सम्बन्धको भूलकर शोक और अशान्तिसे भरे विषय-वैभवसे सम्बन्ध जोड़ोगे तो तुम्हें आनन्द और शान्तिके बदले शोक और अशान्तिकी प्राप्ति होगी।

फिर ज्यों-ज्यों तुम्हारा विषय-सवन्ध बढ़ता जायगा, त्यों-ही-त्यों शोक और अशान्ति भी बढ़ते जायँगे।

फिर तुम जहाँ जाओगे—शोक और अशान्ति भी तुम्हारे साथ जायँगे और जगत्‌के प्राणियोंमें फैलकर बदलेमें तुम्हारे शोक और अशान्तिको और भी बढ़ा देंगे।

तुम्हारे हृदयका दरवाजा आनन्द और शान्तिके लिये बंद हो जायगा और तुम शोक तथा अशान्तिसे सन जाओगे।

फिर, जगत्‌की ऊँची-से-ऊँची किसी स्थितिमें भी तुम्हें आनन्द और शान्तिके यथार्थ दर्शन नहीं होंगे।

इसलिये परम शान्ति और परमानन्दमय भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ लो; फिर तुम जहाँ भी होगे वहीं शान्ति और आनन्दको आकर्षित कर सकोगे और दूसरोंमें वितरण भी कर सकोगे।

उन मनुष्योंका संग करो, अधिक-से-अधिक समय उनके साथ रहने और उनके निकट होकर उनकी सेवा करनेमें बिताओ, जिनका हृदय परम शान्ति आनन्दके समुद्र भगवान्‌में निमग्न है। उनके संगसे—अविरत संगसे—तुम्हारे हृदयका भी भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जायगा। फिर तुम्हारे हृदयका द्वार भी परम आनन्द और परम शान्तिके लिये खुल जायगा।

ऐसे महापुरुष जगत्‌में सर्वत्र शान्ति और आनन्दका प्रवाह ही बहाया करते हैं, जहाँ शोक, अशान्ति, विषाद और भय होता है, वहाँ यदि उनकी हृदयस्थ शान्ति और आनन्दकी किरणें पहुँच जाती हैं तो वे शोक, अशान्ति आदिके अन्धकारका नाश करके आनन्द और शान्तिकी अत्युज्ज्वल चाँदनी फैला देती हैं।

'शिव'

*

बाह्य एवं आन्तरिक त्यागका तात्पर्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन)

जो धन तकदीर- (भाग्य-) में होगा वह आपके घरपर लाकर मालिक देंगे। छप्पर तोड़कर दे देंगे। यह छप्पर तोड़कर रुपया देनेकी कहावत किस प्रकार चली यह बात आप लोगोंको बतलायी जाती है। एक सन्तोषी ब्राह्मण थे। वे चार भाई थे। उनमें एक थे सन्तोषी। वे गीताजीका पाठ और भगवान्‌का भजन-ध्यान किया करते थे। उनके दूसरे भाईलोग उनको ताना मारा करते थे कि इस प्रकार गीताका पाठ एवं भजन-ध्यान करनेसे काम नहीं चलेगा, इसलिये कमाना चाहिये। वे कह देते थे कि मेरी तकदीरमें जो कुछ लिखा है वही तो होगा। तब उन लोगोंने कहा—'तुम्हारी तकदीरका तो मालूम पड़ जायगा। जबतक हमलोग कमाते हैं तबतक तुमको यह तकदीरकी बात याद आती है। जब हमलोग अलग हो जायँगे तब मालूम पड़ेगा कि तकदीर क्या होती है।' उन्होंने कहा—'बहुत ठीक है।' उन्होंने गीताजीका यह श्लोक सुनाया—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
(१२।१७)

'जो अपने मनके अनुकूल वस्तुके प्राप्त होनेपर हर्ष नहीं करता और मनके विपरीत वस्तुकी प्राप्ति होनेपर जिसकी द्वेष-बुद्धि नहीं होती और अपनी प्रिय वस्तुका नाश हो जानेपर जिसे शोक नहीं होता और किसी पदार्थके अभाव होनेपर उसकी आकाङ्क्षा नहीं होती, इस प्रकार जो भी शुभाशुभ प्राप्त हो जायँ उनमें त्यागभाव रखनेवाला भक्तिमान् पुरुष भगवान्‌को प्यारा है।'

इसपर घरवालोंने उनको अलग कर दिया। उनके हिस्सेमें जो कुछ जमीन-जायदाद आयी उसको लेकर वे अलग हो गये। उनकी स्त्री बड़ी कर्कशा थी। उसने कहा कि यह काम बहुत अच्छा हुआ। पहले मुझको घरमें सबकी रसोई बनानी पड़ती थी और सबसे सुनना पड़ता था कि तुम्हारा पति तो कुछ कमाता नहीं है, इसलिये उसके बदलेमें ही तो परिश्रम कर। अच्छा हुआ कि अब रसोईवाले कामसे पिंड छूट गया। अब तो केवल दो व्यक्तियोंकी ही रसोई बनानी पड़ेगी। जब उसने अपने पतिसे इस प्रकारकी बात कही तब उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा कि तुम क्या कहती हो? तुमको हर्ष नहीं करना चाहिये। भगवान् गीतामें क्या बतलाते हैं—'यो न हृष्यति'—जो मनुष्य मनके अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षका अनुभव नहीं करता। इसलिये तुमको इस समय हर्ष नहीं करना चाहिये। इस प्रकार वे अपनी कर्कशा स्त्रीको समझाने लगे। अलग हो जानेके थोड़े दिनोंके बाद ही, जो धन उनके हिस्सेमें आया था, वह सब बिना रोजगारके बैठे-बैठे खानेसे समाप्त हो गया। तब स्त्रीने कहा—'रुपया कमाओ।' उन्होंने जबाब दिया—भगवान् गीतामें क्या बतलाते हैं—'न काङ्क्षति'—'किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करनी चाहिये।' इसलिये जिसको किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा होगी वे कमायेंगे।' तब स्त्री बोली—'निर्वाहके लिये अब क्या किया जाय?' उन्होंने जवाब दिया कि भगवान् गीतामें क्या कहते हैं—'न शोचति'—जो किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करता उसको भगवान् प्यार करते हैं।' तब स्त्रीने कहा 'फिर निर्वाह कैसे किया जाय?' पतिने जवाब दिया कि तुम्हारे पास तुम्हारा गहना है न? स्त्री बोली—'क्या अपना गहना मुझको बेचना पड़ेगा?' पतिने कहा—'बेचो या मत बेचो, तुम्हारी जैसी इच्छा!'

तब लाचार होकर स्त्रीने अपना गहना बेच दिया। उन रुपयोंसे थोड़े दिनोंतक तो काम चलाया, किंतु थोड़े दिनोंके बाद वे रुपये भी समाप्त हो गये। तब वह बोली—'अब क्या किया जाय ?' पतिने कहा—'अपने हिस्सेकी जो जगह है इसको बेचकर अपने रहनेके लिये कोई दूसरी जगह भाड़ेपर ले ली जाय।' तब अपनी जगह भी बेच दी गयी और एक दूसरी जगह भाड़ेपर लेकर रहने लगे। जो जगह भाड़ेपर ली गयी थी वह कच्ची थी। चारों तरफ कच्ची दीवाल बनाकर ऊपरसे फूस डालकरके घर बनाया हुआ था। जमीन बेचकर जो रुपया मिला था वह भी धीरे-धीरे खाकर खतम कर दिया गया। गहना, कपड़ा, जगह सब कुछ बेच दिया गया। जब ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी कि कलके खानेके लिये भी घरमें कुछ नहीं रहा तब स्त्री बोली—'अब क्या किया जायगा ?' जवाब मिला कि भगवान् गीतामें कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
(१२।१७)

'मनके प्रतिकूलकी प्राप्ति होनेपर उसमें द्वेष-बुद्धि नहीं करता और अपनी प्रिय वस्तुका नाश होनेपर शोक नहीं करता, किसी वस्तुके अभावपर आकाङ्क्षा नहीं करता, ऐसा शुभाशुभका त्यागी भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

स्त्रीने कहा—'यह तो ठीक है, लेकिन खायेंगें क्या ?' पतिने बतलाया कि भगवान्‌ने कहा है **'न शोचति'**—जो किसी चीजके लिये शोक नहीं करता वह मेरा प्रिय है, तो फिर हम शोक क्यों करें ? तुमको शोक करना हो तो करो।' तब स्त्री बोली—'इस प्रकार तो भूखों मरना पड़ेगा।' पतिने कहा—'भगवान्‌की जो लीला होती है उसे देखती रहो।' तब उसने पूछा—'आप इसके लिये किसी प्रकारका इन्तजाम करेंगे या नहीं।' पतिने कहा—'नहीं।' स्त्री मन-ही-मन चिन्तित होकर सोचने लगी कि अब क्या किया जाय ? पतिदेवने बतलाया कि **'न शोचति'** हम लोगोंको सोच करना उचित नहीं है। तब पतिने कहा—'आज मैं शौचके पश्चात् नदीतटपर गया था, तो मैंने वहाँ करीब आधा फुट नीचे खोदकर पानी निकाला और हाथ धोया। उस समय उसके नीचे खोदनेपर वहाँ एक धनसे भरा चरू (टोकवा) निकला। उस 'चरू'में सोना, हीरे, मोती, अशर्फियाँ, मोहरें, जवाहरात आदि भरे पड़े थे। तब मैंने उस 'चरू'को वापस बंद करके उसको पहलेकी तरह ही वहीं गाड़ दिया। जब मुझको वह चरू मिला तब मेरी परीक्षा थी कि उस धनको पाकर मैं हर्षित होता हूँ कि नहीं; परंतु **'यो न हृष्यति'**के अनुसार मुझे हर्ष नहीं हुआ। इसी तरह **'न द्वेष्टि'**के अनुसार मुझे इस प्रकार द्वेषभाव भी नहीं हुआ कि उस धनको बाहर निकालकर फेंक देता। और **'न शोचति'**के अनुसार मुझको इसके लिये सोच भी नहीं हुआ कि मैं इतने धनका त्याग करता हूँ। और, **'न काङ्क्षति'**के अनुसार न अब उस धनके लिये ऐसी आकाङ्क्षा ही है कि कोई उस धनको मुझे लाकर दे दे।' यह सुनकर पत्नी बोली—'मैं जाकर उस धनको ले जाऊँ ?' तब उसने कहा—भगवान् कहते हैं कि **'न काङ्क्षति।'** 'उसकी आकाङ्क्षा भी नहीं करनी चाहिये।' जब वे इस प्रकार कह चुके तो स्त्री बोली—'आज शामको कैसे निर्वाह होगा ? भूखों प्राण चले जायेंगे।' तब उन्होंने कहा—**'न शोचति।'** 'इस बातका सोच नहीं करना चाहिये।'

जब वे इस प्रकार उस धनसे भरे चरूके सम्बन्धमें बातचीत कर रहे थे तब उनके घरमें चार चोर घुसे हुए थे। वे उनकी सब बातें सुन रहे थे। उन लोगोंने सोचा कि यह मूर्ख ब्राह्मण नशे- (त्यागके

मद-) में धनका चरू छोड़ आया है । चलो, हमलोग उसको ले आवें । ब्राह्मणदेवने अपनी स्त्रीको जिस प्रकार उस नदीतटके निश्चित स्थानको बतलाया था कि उस जगहपर वह धनका चरू है, वे सब बातें चोरोंने सुन ली थीं । वे सब उसी निश्चित स्थानपर गये । दैवयोगसे उस चरूमें एक छेद था जिससे एक कालानाग भीतरमें घुस गया था । जब उन लोगोंने उस चरूको उठाया तब वह कालानाग फुंफकार मारकर उठा । उन चोरोंने यह दृश्य देखकर परस्पर बात की कि उस बदमाश ब्राह्मणने हम लोगोंको मारनेके लिये ही इस प्रकारका षड्यन्त्र रचा है; क्योंकि उसको मालूम हो गया कि हमारे घरमें चोर हैं । उसने अपना धन बचानेके लिये ही यह षड्यन्त्र रचा है । चलो, अब इस साँप और चरूको ले जाकर उसीके घरमें डाल आवें, ताकि उसको मालूम हो जाय कि हमने तो दूसरोंको मारनेका उपाय किया था, लेकिन हमको ही खुद मरना पड़ा । चोर उस चरूमें उस साँपको वापस बंद करके उसके कड़ेमें एक लकड़ी डालकर उसको वहाँसे उठा लाये और उस ब्राह्मणके छप्परपर चढ़ाकर उनमें जो छेद था उसको खोल दिया, ताकि वह साँप निकलकर पहले ब्राह्मणको ही काटे । उन्होंने इस प्रकारसे योजना बनायी थी कि उस चरूको छप्पर तोड़कर उलटा लटका दिया जाय । तीन आदमी तो पहले ही भाग जायँ और चौथा आदमी छप्परपर टोकनेको उल्टा लटकाकर भाग आवे । ऐसा ही किया गया । वे तीनों तो पहले ही भागे और चौथेने उस चरूको उस छप्परपर लटकाकर धकेल दिया और वहाँसे वह भी भाग गया । चरू भारी होनेके कारण छप्पर तोड़कर नीचे गिर पड़ा । तब वहाँ चरूका ढकन पहले खुला उसके ऊपर वह साँप गिरा और साँपके ऊपर वह रुपया, सोना, अशर्फी' जवाहरात आदिका बोझ पड़ा जिससे साँप तो वहींपर मर गया और उस चरूके गिरनेके साथ ही खन-खनकी आवाज जब जोरसे हुई तो घरमें जो लोग सोये थे वे सब जाग उठे । ब्राह्मणीने सोचा, क्या मामला है ? वह छप्परकी तरफ गयी, वहाँपर देखा तो एक साँप मरा पड़ा है और उसके ऊपर रुपयोंका ढेर लगा पड़ा है एवं चारों तरफ हीरे, जवाहरात, मोती, अशर्फियाँ, रुपये आदि बिखरे पड़े हैं । एक तरफ वह रुपयोंका खाली टोकना पड़ा है । ब्राह्मणी इस विपुल धनको देखकर नाचने लगी और सोचने लगी कि भगवान्‌ने हमको छप्पर फाड़कर धन भेजा है, पतिदेवके भगवान् सच्चे हैं । वह इस प्रकार प्रसन्नतासे नाच उठी । इतनेमें ही वे ब्राह्मण-देव भी वहाँपर आ गये । सब मामला समझनेके बाद उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—'मूर्खे ! क्या नाच रही है । भगवान्‌ने गीतामें क्या कहा है । श्लोकको स्मरण कर—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥

—'प्रिय वस्तुको पाकर हर्षित नहीं होना चाहिये ।' तुमको इस धनकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होना चाहिये और इससे द्वेष भी नहीं करना चाहिये कि उसको उठाकर बाहर ही फेंक दो ।' अगर इस धनको कोई उठाकर ले भी जाय तो शोक भी नहीं करना चाहिये तथा ऐसी आकाङ्क्षा भी मत करो कि अब यह धन हमारे पासमें बना ही रहे ।' स्त्रीने सोचा कि बस, अब काम बन गया । अब इतने धनमेंसे उसने चार अशरफियाँ बीनकर अपना काम चलाया । खूब मजेकी रसोई बनायी गयी । अब तो उनके ठाट हो गये । कोई भी गरीब धनहीन दुःखी आता तो उसको अशरफी ही निकालकर देते । कोई कहता कि मैं ब्राह्मण हूँ, अपनी लड़कीका विवाह करना है, हमको १००रुपयोंकी आवश्यकता है तो वे कहते कि भाई, हमारे पास रुपये नहीं हैं, अशरफियाँ हैं । ब्राह्मण जब यह कहते कि—'अगर अशरफी है तब तो दो चार अशरफीसे ही काम

बन जायगा। तब ये जवाब देते—'दो चार अशर्फियोंसे क्या काम चलेगा दस अशर्फियाँ ले जाइये।' दस अशर्फियोंको देकर उनको विदा कर देते। कोई एक माँगे तो दी जाती दस अशर्फियाँ। जब उनका इस प्रकारका हाल देखा तब गाँवमें हल्ला हो गया कि उनका क्या कहना है। उनके तो बहुत ठाट-बाट हो गया है।

इधर ब्राह्मणके उन तीनों भाइयोंकी, जिन्होंने उस ब्राह्मणसे बँटवारा करते समय बहुत-सा धन बचा लिया था, बड़ी दुर्दशा हो गयी। सट्टेबाजीमें उन लोगोंके धन-गहना, जमीन-जायदाद सब खतम हो चुके थे। और, बाजारमें अब किसी प्रकारकी उनकी इज्जत भी नहीं रह गयी थी कि उनको एक पाई भी उधार मिल जाती, ताकि किसी प्रकारका छोटा-मोटा रोजगार भी कर पाते। उनकी जब इस प्रकारकी बुरी हालत थी, तब उन लोगोंने सुना कि तुम्हारा भाई तो आजकल खूब रुपयावाला धनी आदमी हो गया है और खूब दान-धर्म करता है। तब तीनों भाई अपने उस भाईके घरपर आये। इस छप्परमें आकर देखा तो आधा धन जमीनपर बिखरा पड़ा है और आधा उस टोकनीमें पड़ा है। उन लोगोंने जब इस प्रकार धनका ढेर देखा तब वे भी आश्चर्यचकित हो गये। तीनों ब्राह्मण कहने लगे—'बाप रे बाप! ऐसा धनका ढेर तो हमने कभी भी नहीं देखा है।' तब उस ब्राह्मणकी स्त्रीसे बड़े भाईने पूछा कि 'बहू! तुम्हारे पास यह इतना धन कहाँसे आया है?' ब्राह्मणीने जवाब दिया—'हम लोगोंको तो यह धन भगवान्‌ने ही दिया है और छप्पर फाड़कर दिया है।' उसकी भाभी-भाई आदिने भी देखा कि यह तो प्रत्यक्ष बात है। वस्तुतः भगवान्‌ने इनको वह सब धन छप्पर फाड़कर दिया है। उसमें भगवान्‌की ही दया है और इसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। उन लोगोंको बड़ी भारी लज्जा लगी और वे ब्राह्मणसे बोले—'भैया! तुम्हारा भगवान् तथा गीता सब सच्चे हैं। हमने सुना है कि तुम दान करते हो। हमारी इस प्रकारसे दुर्दशा है, इसलिये हम तुम्हारे पास आये हैं।' स्त्रीने जवाब दिया—'यह धन आपका ही है, आप ले जाइये, हमको तो भगवान् और दे देंगे।' तीनों भाइयोंने सोचा कि अगर हम यह सब धन ले जायेंगे तो ठीक नहीं होगा। तीनों भाइयोंने आपसमें विचार किया कि अब फिर चारोंको शामिल हो जाना चाहिये। उन लोगोंने ब्राह्मणसे वापिस सम्मिलित हो जानेकी बात कही। ब्राह्मण देवताने जवाब दिया—**'यो न हृष्यति न द्वेष्टि··· स मे प्रियः।'** तब सब भाई पुनः शामिल हो गये और उस धनमेंसे लेकर लोगोंका जो रुपया चुकाना था, वह सब चुका दिया। अब तो उन लोगोंके पास लाखों रुपये हो गये थे। गीताभ्यासी ब्राह्मणके सङ्गसे अब उन लोगोंका काफी सुधार हो गया। वे बोले—'हम भी गीता पढ़ेंगे।' फिर वे भी इस श्लोकका मनन करने लगे। **'यो न हृष्यति—स मे प्रियः।'** श्लोकको लक्ष्य बनाकर अपने जीवनको बनाने लगे। उन लोगोंने यह भी देखा कि उसकी स्त्रीका भी सुधार हो गया है। जब हम लोगोंने बँटवारा किया था तब भाई तो कुछ नहीं बोलता था, लेकिन उसकी स्त्रीने बरतनों एवं छोटी-छोटी बातोंको लेकर खूब लड़ाई की थी। उस समय यह कितनी कर्कशा थी। अब तो इसका बहुत सुधार हो गया। इस प्रकार उन दोनोंका व्यवहार देखकर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन तीनों भाइयों और उनकी स्त्रियोंने भी अपना सुधार कर लिया। इसलिये कहा जाता है कि भगवान् जब देता है तब इस प्रकार छप्पर फाड़कर देता है। गीताके इस १२ वें अध्यायके १७ वें श्लोकके आधारपर जो यह कहानी बनायी गयी थी वह आजके प्रकरणमें प्रसंग आनेपर बतलायी गयी है।

इस ब्राह्मणने जो अपने निवृत्तिपरक स्वभावके कारण उक्त श्लोकका वैसा अभिप्राय समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाया था, किंतु गृहस्थाश्रमी

मनुष्योंको प्रवृत्तिमें रहते हुए यानी जीविकोपार्जनके न्याययुक्त कर्त्तव्यकर्म करते हुए ही इस श्लोकके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

आज ऊपर जो बातें बतलायी गयी हैं* उनको फिरसे दोहराया जाता है—

१—सबको परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये।

२—इसी अपने मनुष्य-जन्मको अन्तिम जन्म समझना चाहिये और अब हमारा दूसरा जन्म नहीं होगा—ऐसा दृढ़तासे मान लेना चाहिये।

३—संसारकी सब चेष्टाओंको भगवान्‌की लीला समझना चाहिये।

४—कर्तव्य कर्मोंको करना और त्यागने योग्य कर्मोंको त्याग देना चाहिये; जैसे—आलस्य-प्रमाद, पाप, अतिनिद्रा, दुर्गुण-दुर्भाव—इनको मृत्युके समान समझकर त्याग देना चाहिये। बड़ोंको प्रणाम करना तथा सद्गुणों-सदाचारोंका सेवन करना आदि धारण करनेयोग्य बातोंको तत्परतापूर्वक धारण करना चाहिये।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः!!!

सच्चा-सुख

(लेखक—ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

हम जानते हैं कि अपने शरीरसहित संसारके सभी पदार्थ विकारी, विनाशी और परिमित तथा जन्म-मरणके स्वभाववाले हैं। वास्तविक रूपमें आत्मा सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-शोक और चिन्तासे रहित है। ऐसा जानते हुए भी हम इनके वशमें होते हैं और इनका अनुभव होता है—अब क्या किया जाय जिससे सुख-दुःखका अनुभव न हो ? अनुभव करनेवाला चित्त है, चित्त अर्थात् अन्तःकरण। इस चित्तद्वारा ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। शरीरमें तीन पदार्थ हैं—इन्द्रियोंसहित शरीर, चित्त और आत्मा। आत्मामें परिवर्तन सम्भव नहीं है। शेष अब रहा चित्त। प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति चित्तके अनुसार होती है। चित्तको 'योगवाशिष्ठ' में प्राण और वासना दोका बना हुआ कहा है। सभी शास्त्रोंका तात्पर्य चित्तका निग्रह करनेमें ही है। वासना और प्रकृतिके अनुसार ही प्राणी कर्म करते हैं। प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति या तो भोगोंके लिये होती है अथवा मोक्षके लिये होती है।

अब यह देखा जाय कि भोगोंकी ओर प्रवृत्त होनेमें सुख है अथवा मोक्षके प्रति प्रवृत्त होनेमें। भोग शरीरद्वारा भोगे जाते हैं। भोगेच्छावालोंको शरीर धारण करना ही पड़ेगा। शरीर धारण करनेके पश्चात् शरीरको होनेवाले सुख-दुःखोंका अनुभव चित्तद्वारा करना ही पड़ेगा; कारण कि अन्तारात्मा तो भोग भोगनेके लिये ही शरीर धारण करती है। शरीर धारण करनेपर भी जिनकी भोगोंसे अरुचि है, भोगप्रीत्यर्थ वृत्ति नहीं है, परंतु जिनकी प्रवृत्ति मोक्षप्रीत्यर्थ है, वह बन्धनसे छूट जाते हैं। प्राणिमात्र त्रिविध तापोंसे दुःखी हैं तथा प्राणिमात्र सुख चाहते हैं। प्राणी दुःखसे निवृत्ति चाहता है, तो दुःख-निवृत्तिके लिये जैसी उसकी चेष्टा रहती है, उसी प्रकार यदि हम संसारके त्रितापोंसे अपनेको दुःखी मानते हैं तो हमारी भी उनसे छुटकारा पानेकी वैसी ही चेष्टा होनी चाहिये। भोगोंके लिये जो प्रवृत्ति है वह त्याज्य है; क्योंकि उससे सुख न मिलकर दुःख ही अधिक मिलता है। परंतु जिसको अपने भोगके

*—ये बातें क्रमशः 'कल्याण' के ५८ वें वर्षके ६ से ११ वें तकके अङ्कोंमें दी गयी हैं।

लिये ही अपनी प्रवृत्ति करनी है, वह तो अनेक भोगों और उनके लिये अनेक उपायोंमें अपनी बुद्धि लगाता है। भोगोंमें जिसे सुख प्रतीत होता है, उसकी बुद्धि अशान्त रहती है। इसीलिये तो भगवान्‌ने अर्जुनसे बार-बार कहा है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
(गीता २। ४१)

इसके लिये निश्चयात्मिका बुद्धि कर्मयोगमें एक होनी चाहिये। परंतु निश्चय न करनेवालोंकी बुद्धि बहुत प्रकारकी बिखरी हुई और अनन्त अर्थात् भोगार्थ प्रवृत्ति करनेवाली और अनेक भोगोंमें ही रची-पची रहनेवाली और उसके लिये प्रवृत्ति करनेवाली है।

अब हमें यह देखना है कि सुख है क्या? चित्तकी शान्तवृत्ति ही सुख है और अशान्तवृत्ति ही दुःख है। योगदर्शनमें इसीलिये कहा है कि चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही 'योग' है। भोगोंकी ओर अथवा भोगेच्छाकी ओर प्रवृत्त होनेपर चित्त अशान्त बनता है और जब इच्छारहित होता है तो शान्ति अर्थात् सुखका अनुभव करता है। कर्ता, भोक्ता, सुख अनुभव करनेवाला सब कुछ चित्त है। अशान्त चित्तको अयुक्त चित्त कहते हैं। अशान्त पुरुषकी बुद्धि स्थिर नहीं होती जिसमें चित्त शान्त रहे, संकल्परहित रहे, स्थिर रहे। उसीका नाम समाधि है।

भोग दो प्रकारके हैं, इस लोकके भोग और परलोकके भोग। जैसे इस लोकके भोग हैं, वैसे ही परलोकके भोग हैं। मनुष्य-लोकके अतिरिक्त परलोकके अर्थात् स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदिके भोग विशेष आकर्षक दिखायी देते हैं।

इच्छाके माँ-बाप चित्त है। इच्छावाला चित्त समाधिके सुखको, चित्तके समाहितपनेके सुखको, भोग नहीं सकता। जिस प्रकार परलोकके भोगोंकी वासनामें प्रवृत्त चित्त समाहित नहीं हो सकता, उसी प्रकार इहलोकके भोगोंकी वासनामें प्रवृत्त हुआ चित्त समाहित नहीं हो सकता।

भोगोंकी वासनाके कारण भोगोंमें जो प्रवृत्ति होती है उससे श्रम, क्लेश, राग और द्वेष जन्म पाते हैं। इसलिये भोगोंकी प्राप्तिके लिये श्रम उनका विनाश न हो, ऐसी मिथ्या इच्छा पूर्ण करनेके लिये श्रम और चिन्ता होते हैं तथा भोगके नष्ट होनेपर क्लेश और चिन्ता होते हैं। इस प्रकार भोग प्राप्तिकी इच्छासे लेकर भोग नष्ट होनेके पश्चात् भी श्रम, क्लेश और चिन्ता ही शेष रहते हैं; इससे भोगोंके लिये प्रवृत्ति और तद्रूप कर्तव्य सुखकी इच्छावालेके लिये त्याज्य हैं।

भोगोंसे सुख मिलता है, ऐसा हमलोग मानते हैं। किंतु वह भोग प्राप्त होनेके कालमें अप्राप्त भोगकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्त हुआ अशान्त चित्त जबतक शान्त नहीं होता है तबतक वह सुखका अनुभव नहीं कर सकता। शान्त चित्त ही सुखका अनुभव करता है। इसलिये चित्तकी शान्ति ही सुख है। शान्त चित्तमें इच्छा उत्पन्न करके, उसकी पूर्तिके लिये परिश्रम करके, उसकी पूर्ति होनेपर एक क्षणके लिये शान्तिका अनुभव करना अच्छा है अथवा सदा-सर्वदा इच्छारहित अवस्थामें अखण्ड शान्तिका अनुभव करना इससे भी अधिक अच्छा है? यह निश्चय सहज ही किया जा सकता है।

परलोकके स्वर्ग आदिके सुखों और भोगोंपर विचार करें तो जैसे बाजीगरका नकली रुपया उसके संकल्पतक ही दिखायी देता है और संकल्प नष्ट होते ही वह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जबतक पुण्य रहते हैं, तबतक भोग रहते हैं, उसके पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। भोगमात्र पुण्यरचित हैं और नश्वर हैं।

वेदमें सकाम कर्म और मोक्षकर्म दोनों बताये गये हैं। जिसकी भोगकी इच्छा हो वह सकाम कर्म करे और जिसकी मोक्षकी इच्छा हो वह इच्छारहित यज्ञार्थ कर्म करे।

चींटीसे लेकर ब्रह्माजीतक प्राणिमात्रके शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वोंके ही कम-अधिक प्रमाणमें बने हैं; वे सब बीमारीके आश्रय और विनाशी हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके किसी भी लोकमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयोंको छोड़कर छठा विषय नहीं है तथा प्राणिमात्रका चित्त सत्त्व, रज और तमके अतिरिक्त चौथे गुणका नहीं है। इहलोक और परलोकके भोगोंका चाहे जितना चित्ताकर्षक वर्णन सुनो, परंतु कुत्तेके भोगमें जितना कुत्तेको सुख है उतना ही सुख इन्द्रको स्वर्गके भोगोंमें है। इच्छित भोगके प्राप्तिकालमें चित्तकी शान्त-वृत्ति ही सुख है। सबसे अधिक सुखी वह है जिसे कभी कोई इच्छा ही नहीं होती, जो इच्छारहित है। जिसकी चित्तवृत्ति सदा शान्त है वही सदा सुखी है—**'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'**

इसलिये मोक्षार्थीको भोगोंसे रहित होना चाहिये और लोक-परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति बन्द करनी चाहिये। तत्पश्चात् इहलोकमें प्रारब्धसे प्राप्त हुए सुख-दुःख सर्दी-गर्मी, जो कि अनिवार्य हैं, सहन करना चाहिये और सत्त्व अर्थात् वासनारहित चित्तमें स्थिति करनी चाहिये अर्थात् शान्त चित्तवाला रहकर शान्तिका, आत्यन्तिक श्रेष्ठ सुखका, उपभोग करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य परलोकके भोगोंकी इच्छाका त्याग करे, इस लोकके विशेष भोगोंकी इच्छाका त्याग करे, किंतु फिर भी जीवन-निर्वाहकी इच्छा शीघ्र नहीं छूटती। उसके लिये ज्ञानवान् ऐसा समझते हैं कि प्रारब्धानुसार जीवनके आवश्यक भोग मिल ही जाते हैं, इससे उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। चिन्ता करनेसे वे मिलेंगे नहीं—ऐसा सोचकर ज्ञानी पुरुष निश्चिन्त रहता है अथवा भगवान् विश्वम्भर हैं, वे प्राणमित्रका पालन-पोषण करते हैं—ऐसा विश्वास रखकर प्राणी निश्चिन्त रहते हैं। भगवान्ने अपने प्रिय भक्तोंकी रक्षा कब नहीं की? भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें यह प्रतिज्ञा की है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

और इसीका रसास्वादन करके हमारे एक अनुभवी सन्तने गाया है—

रह निश्चिन्त मत कर फिकर पूरन हार समर्थ।
जल-थलमें जो जीव हैं, उनकी गाँठ कहाँ गर्थ?

इस प्रकार इन सबका तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुको भोगेच्छारहित कर्म करने चाहिये तथा इहलोक और परलोकके भोगोंकी इच्छा, साथ ही जीवन-निर्वाहकी चिन्ताका त्याग करना चाहिये और इच्छारहित कर्म करते रहना चाहिये। इच्छा ही बन्धन है और इच्छारहित होना ही मोक्ष है। इसीसे सन्त सुन्दर दास कहते हैं—

मुक्ति इच्छे वैराग है, बन्धन घर है स्नेह।
ये सब ग्रन्थनको मतो, मन मानेसु करेह॥

इस प्रकार आत्माका, जगत्का तथा जगत्के पदार्थोंका निर्णय करनेके पश्चात् कर्त्तव्यका निश्चय यह होता है कि फलेच्छारहित कर्म करने चाहिये। वास्तविक रूपमें तो आत्मा अकर्ता है और शरीर, इन्द्रियाँ तथा चित्त कर्म करते हैं, लेकिन वे कर्म मैंने किये—इस प्रकार आत्मा मान लेता है और कर्म न करनेपर भी उसका कर्त्ता मानकर उस कर्मका फल चित्तद्वारा भोगता है। जो कर्ता नहीं, वह भोक्ता भी नहीं। मनुष्य ऐसा जानता है कि फलेच्छाके बिना कर्म कैसे होंगे? इससे यह समझमें आ जाये कि आत्मा तो कर्ता नहीं, इससे आत्माके लिये फलकी इच्छा न रखकर शरीरसे

शरीरका धर्म मानकर कर्म करता रहे । आत्माके सांनिध्यसे (पर उसके असंगपनेसे) शरीर, इन्द्रियाँ और चित्त कर्म करते हैं । आत्मा कर्ता नहीं है । फिर भी यदि आत्मा अपनेको कर्म करनेवाला मानता है तो बँधता है और यदि विचारपूर्वक ठीकसे विषयको समझे तो छूट जाता है । अब प्रश्न यह उठता है कि तो कर्म ही नहीं करे ? परंतु जिस प्रकार फलेच्छापूर्वक कर्म करना बन्धन है उसी प्रकार कर्म न करनेमें भी आत्मा अपनेको कर्त्ता मानकर यह कहता है कि मैं कर्म नहीं करूँगा । तो यह भी बन्धन हो जाता है । इससे शरीरसे प्रकृतिके अनुसार कर्म करते रहना चाहिये । परंतु फलेच्छारहित कर्म करने चाहिये और कर्म न करनेका आग्रह भी नहीं रखना चाहिये—**'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'।** जो कर्म स्वयंके लिये नहीं है, वह कर्म जगत्-अर्थ अथवा यज्ञार्थ कहलाता है । तो प्रश्न यह उठता है कि यज्ञार्थ कैसे करें ? जिस प्रकार पानीके जहाज चलानेवालेकी दृष्टि (लक्ष्य) ध्रुवके काँटेपर रहती है, उसी प्रकार साधकको ऊपर दृष्टि रखकर और जिस प्रकार बुद्धिमें अस्थिरता, अशान्ति उत्पन्न न हो उसी प्रकार रहना चाहिये । सकाम कर्मसे अशान्ति होती है, निष्कामसे सदा शान्ति रहती है । फलके हेतुसे कार्य करनेवाला मनुष्य निर्धन-रंक होता जाता है । भोगोंके लिये करनेपर वह भोगोंका दास बनता है और उत्तरोत्तर उसका पतन होता है । उसे शक्ति अथवा सुख नहीं मिलता । इससे लाभ, हानि, जय, पराजय, यश-अपयश किसीसे भी चित्तको चञ्चल नहीं होने देना चाहिये । शरीरके धर्म-रूपी कर्म शरीरसे करते रहने चाहिये । इस प्रकार कर्म करनेपर सर्वकालमें चित्तकी अविकल स्थिति रहेगी । इसे ही योग कहा जाता है । जिसके हृदयमें कभी इच्छा उत्पन्न नहीं होती, वह सदा एकरूप, शान्त, अविकल रहता है और सबसे श्रेष्ठ है । वही योगी है और उसीको भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्थितप्रज्ञ कहा है ।

सार यह है कि इच्छारहित स्वधर्मरूपी कर्म करनेसे ही चित्तकी आत्यन्तिक शान्ति (मुक्ति) प्राप्त होती है। इससे जिज्ञासुको सतत बिना उपेक्षा किये भावपूर्वक इसलिये प्रयत्न करना चाहिये कि यही उसका कर्त्तव्य है, यही धर्म है और यही कर्मयोग तथा यही भक्ति है ।

अनुवादक—प्रा० भूदेवप्रसाद हरिभाई पंड्या

दिव्य दाम्पत्य

मनु और शतरूपाने जब अपनी पुत्री देवहूतिका हाथ कर्दम ऋषिके हाथमें देनेकी इच्छा प्रकट की तो कर्दमने कहा—'मैं भोग-विलासके लिये नहीं, परन्तु पत्नीके साथ नित्य सत्सङ्ग करके आत्मसुख प्राप्त करनेके लिये ही विवाह करना चाहता हूँ । मुझे भोगपत्नी नहीं, धर्मपत्नी चाहिये । हमारा सम्बन्ध संसारका उपभोग करनेके लिये नहीं, बल्कि नाव और नाविककी तरह संसार-सागर पार करनेके लिये होगा । अतः एक पुत्रकी प्राप्तिके बाद मैं संन्यास ले लूँगा । क्या आपको स्वीकार्य है ।'

मनु-शतरूपा बड़ी उलझनमें पड़े, किन्तु देवहूतिने तपस्वीकी सेवा स्वीकार कर ली और वल्कल वस्त्र पहन लिये ।

विवाहके बाद दम्पतीने बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और पत्नीने पति-सेवाके व्रतका निर्वाह किया ।

सेवासे प्रसन्न होकर कर्दमने पत्नीकी इच्छाको पूर्ण करना चाहा तो पत्नीने कहा, 'और दूसरी वस्तु क्या माँगू ? हाथ पकड़कर लाये हो तो हाथ पकड़कर प्रभुके दरबारमें भी पहुँचा दीजिये ।'

ऐसे दिव्य दाम्पत्यके द्वारपर ही कपिल भगवान् पुत्र रूपमें पधारे । विवाहके बारेमें कैसी सुन्दर जीवन-दृष्टि है !

कामके पत्र

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार)

तीन श्रेष्ठ भाव

आपका कृपापत्र मिला। आपने पूछा कि 'जगत्के सब जीवोंमें सच्चा प्रेम कैसे हो, सब एक-दूसरेकी भलाईमें कैसे प्रवृत्त हों और कोई भी किसीकी कभी बुराई न करे, इसका क्या उपाय है।' सो मेरी समझमें निम्नलिखित तीन भावोंके अनुसार व्यवहार करनेपर ऐसा होना सम्भव है।

(१) जगत्के सभी जीव श्रीभगवान्से उत्पन्न हैं, उनकी सन्तान हैं, और इसलिये सब भाई-भाई हैं।

(२) जगत्के सभी जीवोंमें एक ही आत्मा है।

(३) जगत्के समस्त जीवोंके रूपमें एकमात्र श्रीभगवान् ही प्रकट हैं।

ये तीनों ही शास्त्र-सम्मत और सत्पुरुषोंके द्वारा अनुभूतसत्-भाव हैं एवं इनमें प्रत्येक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। अब इन तीनोंपर कुछ अलग-अलग विचार कीजिये—

(१) जगत्के सभी जीव भगवान्से ही पैदा हुए हैं, भगवान्की ही सत्तासे भगवान्में ही जी रहे हैं, और अन्तमें भगवान्में ही सबका प्रवेश होता है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' (तै० उ०)

भगवान् ही सबके माता, पिता, पितामह हैं। अतएव सब भाई-भाई हैं। भाईका भाईमें प्रेम होना ही चाहिये तथा भाई भाईका भला करता ही है और भाई वस्तुतः भाईका बुराकर नहीं सकता। इस भावका यथार्थ विकास होनेपर परस्पर प्रेम और हितकी चेष्टा होना अनिवार्य है। सच्चे भ्रातृभावमें त्याग अपने-आप ही खिल उठता है। भाईका सुख-स्वार्थ ही अपना सुख-स्वार्थ बन जाता है और उसीमें परस्पर परितृप्ति होती है। श्रीरामजी भाई भरतको सिंहासनासीन बनाना चाहते हैं और भरतजी भगवान् रामकी सेवा करनेके सिवा और कुछ स्वीकार ही नहीं करते। भरतकी राज्यप्राप्तिके लिये वन जाते समय रामजी अपना अहोभाग्य मानते हैं—

भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥

और भरतजी वनमें जाकर रामजीसे कहते हैं—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥

विश्वका दुर्भाग्य है कि आज यह पवित्र भाव लुप्त-प्राय हो गया है। आज भाईका स्थान वैरीका-सा हो चला है। भाई ही सबसे बढ़कर भाईकी बुराई करनेपर तुला है। यह भारी प्रमाद है। इस प्रमादसे बचनेके लिये यूरोपके मनीषियोंने 'विश्वभ्रातृत्व' का प्रचार करना चाहा—यद्यपि उसमें एक बड़ा दोष था कि, वह केवल मानव-मानवमें ही भ्रातृत्वकी स्थापना करना चाहता था, भूतमात्रमें नहीं; तथापि वह भी चला नहीं। नीच व्यक्तिगत स्वार्थने भ्रातृत्वके पवित्र भावकी जड़ नहीं जमने दी। स्वार्थवश भाई ही भाईका गला काटनेको तैयार हो गया। इसीसे आज जगत्में हाहाकार मचा है। आज ऐसा राम-सा भाई कहाँ है जो भाईके गुण गाते-गाते अघाता न हो—

भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उँजिआरी॥

(२) भगवान्ने कहा है—'सर्वत्र आत्माको समभावसे देखनेवाला युक्तात्मा देखता है कि समस्त प्राणियोंमें आत्मा है और समस्त प्राणी आत्मामें हैं'—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

अपने-आपमें सबका स्वाभाविक प्रेम है, सभी स्वाभाविक अपनी भलाई चाहते और करते हैं तथा जान-बूझकर अपना बुरा कोई नहीं करता। वरं सब चौकन्ने रहते हैं कि कहीं हमारा कोई अनिष्ट न हो जाय। अतएव जब यह भाव हो जायगा कि सब मेरे आत्मा ही हैं, सबमें ही मैं हूँ, तब अपने-आप ही उपर्युक्त बातें बन जायँगी। हमारे शरीरके किसी अङ्गमें कहीं भी काँटा चुभ जाय, कहीं कुछ पीड़ा हो जाय तो उसका अनुभव हमें समानरूपसे होता है। हमारे शरीर और नामको किसी अंशमें कहीं कोई सुख-सम्मान मिलता है तो हम प्रसन्न होते हैं। कभी ऐसा नहीं सोचो कि अमुक अङ्गमें सुख है तो दूसरेमें भी होना चाहिये। हम चाहते हैं कि हमारे किसी अङ्गमें कभी कोई दुःख या पीड़ा न हो, सबमें सदा सुख रहे। सर्वत्र आत्मभाव होजानेपर सबके सुख-दुःखमें ऐसी ही समदृष्टि हो जाती है। प्राणिमात्रका दुःख हमारा दुःख और सुख हमारा सुख हो जाता है। हमारी सीमाबद्ध अहंता विश्वचराचरमें विस्तृत हो जाती है, हमारी क्षुद्र आत्मसत्ता विश्वकी विराट् सत्तामें मिल जाती है और हमारा क्षुद्र स्वार्थ विश्वके विस्तृत स्वार्थमें घुल-मिलकर एक हो जाता है। इसी अवस्थाको प्राप्त पुरुषोंके लिये भगवान्ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'जो अपने आत्माके समान ही सबके सुख-दुःखको समानरूपसे देखता है, अर्जुन! वही श्रेष्ठ योगी माना गया है।'

यह भाव प्रथम भावकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। भाई-भाईमें स्वार्थवश वैर-विरोध हो सकता है, परन्तु अपने आत्मासे किसीका वैर-विरोध नहीं होता। तथापि मनुष्य जैसे क्रोध या मोहके आवेशमें आप ही अपनी हानि कर बैठता है, आत्महत्यातक कर डालता है, वैसे ही मोहवश आत्मभूत जगत्का भी अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाता है। आज यही हो रहा है।

(३) एकमात्र हमारे परमाराध्य इष्टदेव भगवान् ही विश्व और विश्वके प्रत्येक प्राणीके रूपमें प्रकट हैं। उनके सिवा और कुछ है ही नहीं। सर्वत्र वे-ही-वे हैं। उन्होंने कहा है—'अर्जुन! मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं—'

'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।'

(गीता ७। ७)

अतः 'जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसकी आँखोंसे मैं कभी ओझल नहीं होता एवं वह मेरी आँखोंके सामने से कभी नहीं हटता'—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

इस परम भावकी प्राप्ति होनेपर उसे सर्वत्र पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, ग्रह, नक्षत्र, वृक्ष, लता, दिशाएँ, नदी, समुद्र—सभीमें अपने भगवान्के दर्शन होते हैं। **'जित देखौं तित श्याममयी है।'** फिर वह सबका सम्मान, सबका हित, सभीकी पूजा, सभीका सत्कार स्वभावसे ही करता है। उसका मस्तक और हृदय सबके सामने सदा झुका रहता है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इनमेंसे किसी भी भावका यथार्थ प्रकाश मनुष्यके क्षुद्र स्वार्थका नाश कर सकता है। स्वार्थ और अभिमान-से ही वैर-विरोध, अनिष्ट-चिन्तन और असद्-व्यवहार होता है। स्वार्थ और अभिमानका जितने अंशमें त्याग होता है, उतने ही अंशमें इन दोषोंका नाश होता है तथा प्रेम और हित-चिंतनकी वृद्धि होती है।

(२)

कीर्तन और कथासे महान् लाभ

प्रिय भैया ! पत्र मिले बहुत दिन हो गये । तुम्हारे लिये मेरे दो अनुरोध हैं—

(१) प्रतिदिन किसी समय घरके सब लोग मिलकर कम-से-कम पंद्रह मिनट श्रीभगवान्‌के नामका कीर्तन किया करो, और—

(२) प्रतिदिन प्रातःकाल या रात्रिमें, जब भी फुरसतका समय हो, कम-से-कम एक घंटे भगवान्‌की कथा सुना करो या सुनाया करो । कथाका प्रसंग भगवान्‌की सरस मधुर लीलाका हो अथवा सरल आत्मोन्नतिकारक सदाचार, विवेक, वैराग्य, भक्ति और भगवत्-स्वरूपके ज्ञानका बोध देनेवाला हो । श्रीमद्भागवत, महाभारतके चुने हुए प्रसंग, श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भगवद्गीता, पुराणोंके चुने हुए कथानक, संत और भक्तचरित्र और महापुरुषोंकी जीवनियाँ, इसके लिये बहुत उपयोगी हैं । इस नित्यकी भगवच्चर्चामें कोई आडम्बर न हो । ऐसे ग्रन्थ या प्रसंग चुने हुए रहें और घरमें जो कोई भी पढ़कर अच्छी तरह सुना सकता हो, वही सुना दे तथा सब लोग आदर एवं भक्तिभावसे उन्हें नियमित मन लगाकर सुनें ।

मेरी समझसे इन दो साधनोंसे तुम्हारे घरका वातावरण पवित्रतम हो सकता है । जो समझानेसे बात नहीं समझमें आती, पर वही बात जब कथा-प्रसंगमें आ जाती है तो उसका सहज ही ग्रहण हो सकता है ।

ये दो ऐसे साधन हैं जिनका घर-घरमें प्रवेश होना चाहिये । घरका वातावरण और घरके लोगोंका स्वभाव शुद्ध तथा भगवदभिमुखी करनेके लिये ये दोनों साधन बड़े ही प्रभावशाली हैं । करके देखो और हो सके तो अपने मित्रोंमें भी इनका प्रचार करो । इनसे घर और देशका सुधार तो होगा ही, मनुष्य-जीवनके चरम उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका पथ भी बहुत सहज हो जायगा ।

(३)

दूसरेके नुकसानसे अपना भला नहीं होगा

घर-परिवारका पालन, कुल-जातिकी सेवा और स्वदेशप्रेम सभी आवश्यक हैं, यथायोग्य सबको इनका आचरण अवश्य करना चाहिये; परंतु ऐसा नहीं होना चाहिये कि अपने घर-परिवारके पालनमें दूसरोंके घर-परिवारकी उपेक्षा, अपने कुल-जातिकी सेवामें दूसरे कुल-जातियोंकी हानि और स्वदेशके प्रेममें अन्य देशोंके प्रति घृणा हो । सच्चा पालन, सच्ची सेवा और सच्चा प्रेम तभी समझना चाहिये जब अपने हितके साथ दूसरेका हित मिला हुआ हो । जिस कार्यसे दूसरोंकी उपेक्षा, हानि या विनाश होता है, उससे हमारा हित कभी हो ही नहीं सकता । भगवान् सम्पूर्ण विश्वके समस्त जीवोंके मूल हैं, भगवान् ही सबके आधार हैं, भगवान्‌की सत्तासे ही सबकी सत्ता है, समस्त जीवोंके द्वारा और समस्त जीवोंके जीवनरूपमें भगवान्‌की ही भगवत्ता काम कर रही है । इस बातको याद रखते हुए सबकी सेवाका, सबके हितका और सबकी प्रतिष्ठाका खयाल रखकर अपने कुटुम्ब, जाति और देशसे प्रेम करना तथा उनकी सेवा करनी चाहिये । तभी प्रेम उज्ज्वल होता है एवं सेवा सार्थक होती है । नहीं तो, जहाँ हम दूसरेके विनाशमें अपना विकास देखते हैं, वहाँ परिणाममें हमारा भी विनाश ही होता है । यह याद रखना चाहिये कि जिसमें दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता ।

आत्मतत्त्व-विमर्श

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्० काम्)

संस्कृत-साहित्यमें 'आत्मा' शब्द प्रायः परमात्मा एवं जीवके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे यह ऊन्-श्वसने, **'अत्-सातत्यगमने'** आदिसे बना है। 'आत्मा' शब्द जीवनार्थक है। तत्त्वतः इनमें भेद भी नहीं हैं। भगवान् राम कहते हैं—

'जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः।'

(अध्या० रा० ३। ४। ३१)

मुख्यरूपसे दार्शनिक दो प्रकारके हैं—आत्मवादी एवं अनात्मवादी। प्रकृतिसे परे आत्माको पदार्थ-विशेष या तत्त्व-विशेषको मान्यता प्रदान करनेवाले आत्मवादी तथा आत्माको प्रकृति-विकार-विशेषकी मान्यता प्रदान करनेवाले अनात्मवादी कहे जाते हैं। अनात्मवादियोंके अनुसार प्रकृतिके अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व है ही नहीं।

उपनिषदोंमें देवराज इन्द्र एवं दैत्यराज विरोचनका वर्णन मिलता है। देवराज और दैत्यराज दोनों ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञान प्राप्त करने-हेतु गये। ब्रह्माजीने विचार करनेका अवसर प्रदान करनेके लिये बतलाया कि 'जो दर्पणोंमें, जलोंमें और नेत्रोंमें दिखलायी देता है, वही आत्मा है।' असुरराज विरोचनकी बुद्धि कुशाग्र नहीं थी। उन्होंने अनेक स्थलोंपर अपनी देहके प्रतिबिम्बको देखकर सुनिश्चित कर लिया कि देह (शरीर) ही आत्मा है। वे पूर्ण संतुष्ट होकर वापस आ गये। असुरराज विरोचनने अपने तत्त्वज्ञानका प्रचार असुरोंमें किया। असुर देहात्मवादी बन गये। वे देह-(शरीर-) को प्रधानता प्रदान करते रहे। कामोपभोग ही उनका परम लक्ष्य रहा। इसी सभ्यताका पाश्चात्य देशोंमें प्रचार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि देहात्मवादने ही शरीरके मरनेपर भी उसे सुरक्षित रखनेकी प्रेरणा प्रदान की। पाश्चात्य देशोंमें अनात्मवादियोंकी विचार धारा **'कामोपभोगपरमाः'** की मूल प्रवृत्तिसे प्रभावित रही; यद्यपि कि शोपनहार, शैली, कांट, सुकरात आदि तत्त्व-चिन्तक दार्शनिक थे और उनके विचार भारतीय विचारोंसे प्रभावित थे। वे अनात्मवादको महत्त्व नहीं देते।

भारतीय देहात्मवादी (चार्वाक आदि) कहते हैं कि देह (शरीर) ही आत्मा है, जो शारीरिक तत्त्वोंके संयोगसे उसी प्रकार बन जाता है, जैसे पान, कथा एवं चूनाके संयोगसे लाल रंग बन जाता है। अतः आत्माकी उत्पत्ति शरीरके साथ ही होती है और शरीरके मरनेपर आत्माका विनाश हो जाता है। यह है चार्वाक आदिकी मान्यता।

पाश्चात्त्य हेतुवादियोंका मत है कि देह, इन्द्रिय, मन एवं प्राणसे आत्मा परे है; क्योंकि इनके विषयमें आत्मा कहता है कि ये 'मेरे' हैं। इनके अतिरिक्त जो 'मैं' है, वही आत्मा है। परंतु वे कह नहीं सकते कि यह 'मैं' क्या है और उसका तात्पर्य संज्ञा क्या है? शास्त्रोंमें उल्लेख है कि 'यह 'मैं' अहंकारकी है और वह अहंकार अज्ञानका कार्य है।'

क्षणिकवादी बौद्धोंके मतसे कोई वस्तु दो क्षणतक भी समानरूपसे स्थिर नहीं रहती। दीप-शिखा एवं जल-प्रवाहके समान प्रतिपल परिणाम प्राप्त करता रहता है और एक अवस्थाके लय होनेपर तत्क्षण दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार एक जन्मके अन्तिम विज्ञानके अंत होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान खड़ा हो जाता है। अतः आत्मा स्थिर अर्थात् नित्य नहीं है।

जैन-(आर्हत-) दर्शनके 'अनुसार आत्मा कर्मोंका कर्त्ता, फलोंका भोक्ता और अपने कर्मोंसे बन्धन एवं मोक्षको प्राप्त होनेवाला एक अनिर्वचनीय तत्त्व है।

महर्षि कणादके वैशेषिक-दर्शनने आत्माको एक द्रव्यकी मान्यता प्रदान की है। प्राण, निमेष, अपान, उन्मेष, जीवन, मन, गति, इन्द्रिय और अन्तर्विकार—ये नौ आत्माके चिह्न हैं। जहाँ प्राणादि चिह्न दृष्टिगोचर हों, वहाँ आत्माका अस्तित्व अवश्य है।

न्याय-दर्शनके अन्तर्गत महर्षि गौतमका मत है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान—ये आत्माके चिह्न हैं। संख्या, परिगाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि और प्रयत्न—ये आठ आत्माके गुण हैं।

सांख्य-दर्शनके अन्तर्गत महर्षि कपिलने परमाणुवादसे ऊपर उठकर प्रकृतिका प्रतिपादन किया। सांख्यका मूल तर्क है कि किसी पदार्थसे विरोधी पदार्थकी उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। जो पदार्थ जिस पदार्थसे व्याप्त (समन्वित) है, उसका कारण भी वही (व्यापक) है। पदार्थका विनाश नहीं होता। उसका केवल तिरोभाव होता है। आत्मा अकर्ता साक्षीभूत असंग एवं प्रकृतिसे परे अतीन्द्रिय तत्त्व है।

महर्षि पतञ्जलिका योग-दर्शन सेश्वर सांख्य-नामसे विख्यात है। योग-दर्शन सांख्यसे विचारमें कोई भेद नहीं रखता। योग-दर्शन क्लेश-नाशका एक व्यावहारिक साधन-मार्ग बतानेके लिये प्रवृत्त हुआ है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—जीवके ये पाँच क्लेश हैं। इनसे नित्ययुक्त, कर्मविपाक तथा आशय-सम्पर्कसे शून्य, अद्वितीय, ज्ञानरूप आत्मा है।

मीमांसा-दर्शनके अनुसार कर्मोंका कर्ता और फलोंका भोक्ता एक स्वतन्त्र एवं अतीन्द्रिय तत्त्व (पदार्थ) है। परंतु मीमांसकोंमें कुमारिलके विचारसे 'अज्ञानोपहतचैतन्य' तथा प्रभाकरके विचारसे 'अज्ञान' ही आत्मा है।

वेदान्तदर्शनके अनुसार नित्य, अनादि, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, सूक्ष्म, व्यापक, अरूपी, आनन्दस्वरूप, अवयवरहित, शून्य, शान्त, दोषरहित, तमरहित एवं बन्धन-मुक्त ही आत्मा है। यह आत्मा सब भूतोंका अधिपति है तथा सब प्राणियोंमें राजा—प्रकाशस्वरूप है। जैसे रथके पहियेमें सब अरे समर्पित रहते हैं, वैसे ही इस आत्मामें सब भूत, सब देव, सब लोक, सब प्राण तथा ये सभी आत्मा समर्पित हैं। (बृहदा० उ० २। ५। १५)।

आत्माके विषयमें उपयोगी चिन्तन योगवासिष्ठ या महारामायणमें प्राप्त होता है। तदनुसार वह देश, काल और जाति, धर्म और सम्प्रदाय इत्यादिसे परे है। व्यापक आत्माके लिये दूर और समीप कुछ नहीं, (वह) सर्वत्र एक-सा है। आत्मा किसी दायरेमें सीमित नहीं, अतः सर्वव्यापक सर्वेश है। वह वस्तुकृत विभागोंसे कभी विभक्त नहीं होता; क्योंकि सभी वस्तुओंमें वह व्यापक है; सभी उसमें हैं। वह असीम है। नित्य-निरंतर बना रहनेवाला सर्वव्यापक अजन्मा दिशाओंकी समीपता और दूरी, देशोंकी निकटता और दूरीसे व्यवहृत नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी कोई दूरी या निकटता नहीं है। वह सर्वव्यापी, नित्य, अजन्मा, भूत, भविष्य और वर्तमानकालकी परिधिसे बाहर रहता है। वह कोई संसारी वस्तु भी नहीं है। इसी कारण सर्वेशपर देश, काल और वस्तुके परिच्छेद लागू नहीं होते। अतएव काल-परिवर्तन या परिणामसे रहित होनेके कारण नया-पुराना नहीं होता, सदा एकरस बना रहता है।'

आत्मा उपाधिसे रहित और अविनाशी है। अध्यात्म-रामायणमें भी उल्लेख है कि—

आत्मा सर्वत्र पूर्णः स्याच्चिदानन्दात्मकोऽव्ययः।
बुद्ध्याद्युपाधिरहितः परिणामादिवर्जितः॥

(अध्या० रा० ३। ४। ४०)

अर्थात्—'आत्मा सर्वत्र पूर्ण, चिदानन्दस्वरूप, अविनाशी, बुद्धि आदि उपाधियोंसे शून्य तथा परिणा-मादिसे रहित है।

अध्यात्मरामायणके अन्तर्गत भगवान् राम ताराको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए कहते हैं—'आत्मा निर्विकार है। वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, न स्थिर रहता है और न आता-जाता है। आत्मा सर्वव्यापी और अव्यय है, वह स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक कुछ भी नहीं है, बल्कि अद्वितीय, आकाशके समान निर्लेप नित्य, ज्ञानमय और शुद्ध है' (अध्या० रा० ४ । ३ । १६–१६) ।

आध्यात्मरामायणमें रावणने अपनी भार्या मंदोदरीको समझाते हुए कहा है—

आत्मा तु केवलं शुद्धो व्यतिरिक्तो ह्यलेपकः।
(६ । १० । ३९)

अर्थात्-'आत्मा तो एकमात्र शुद्ध, सबसे पृथक् और असंग है।'

आनन्दरूपो ज्ञानात्मा सर्वभावविवर्जितः।
न संयोगो वियोगो वा विद्यते केनचित् सतः॥
(आध्या० रा० ६ । १० । ४०)

अर्थात्—'वह (आत्मा) आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय और समस्त भावोंसे रहित (भी) है। उस सत्यस्वरूपका कभी किसीसे संयोग-वियोग नहीं होता।

कठोपनिषद्में आत्माके विषयमें यमराज कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(१ । २ । १८)

अर्थात्—'यह चैतन्यरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है। न यह किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और सनातन है। शरीरके मर जानेपर भी यह नहीं मरता। पुनश्च—'आत्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और महान्से भी महत्तर है तथा जीवकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ है' (कठ० १२ । २०) । आत्माकी सूक्ष्मताके विषयमें कहा गया है कि 'यदि बालकी नोकके सौ भाग करके, उसमेंसे एक भागके पुनः सौ भाग करे तो उसके एक भागके बराबर आत्मा होता है' (श्वे० उ० ५ । ८) ।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको सम्बोधित करते हुए आत्माके विषयमें कहा है कि 'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है' (श्रीमद्भगवद्गीता २ । १९) । यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा होकरके फिर होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीरके नाश होनेपर भी यह नष्ट नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता भी उपर्युक्त सिद्धान्तका ही यथावत् वर्णन करती है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२ । २०)

पुनश्च—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
(गीता २ । २३)

अर्थात्—'इस आत्माको शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और न इसको आग जला सकती है तथा इसको जल नहीं गीला कर सकता है और वायु नहीं सुखा सकती है; क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह निःसंदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् मनका अविषय और विकार-रहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है (गीता २ । २४-२५)

संक्षेपमें योगवासिष्ठ तथा लघुयोगवासिष्ठके अनुसार आत्मा ज्ञानमय, चेतन, अजर, अविनाशी, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, सनातन, अनादि, अनन्त, अखण्ड, अच्छेद्य, अभेद्य, सूक्ष्मतम, महत्तम, निराकार, प्रकाशस्वरूप, आनन्दस्वरूप, शून्य, शान्त एवं नित्य है। आत्मा अजन्मा, स्वतन्त्र, सदैव एकरस रहनेवाला, अनोखा, अनुपम, अनिर्वचनीय, आविर्भाव-तिरोभावसे रहित एवं अनुभवगम्य है।

शाप और वरदान

(लेखक--श्रीरामआसरेजी शर्मा (समाधिया), एम्० ए० एल्० टी०)

भारतीय शास्त्रों, इतिहासों एवं पुराणोंमें शाप और वरदानके कई विवेच्य प्रसङ्ग देखनेको मिलते हैं। अयोध्या-नरेश दशरथका बाण श्रवणकुमारको लगा और उसकी मृत्यु हो गयी। महाराज दशरथ जल लेकर श्रवणके माँ-बापके पास पहुँचे; परंतु उन्होंने आवाजसे पहचान लिया कि यह मेरा पुत्र न होकर कोई अन्य पुरुष है। पूछा तो उत्तर मिला कि मैं अयोध्याका अभागा राजा दशरथ हूँ। पुत्र-शोकमें अंधे माँ-बाप शाप दे रहे हैं—'तुम पुत्र-शोकमें मरोगे।' दशरथने सुना कि 'तुम पुत्र-शोकमें मरोगे' तो वे प्रसन्न होकर कहने लगे—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥
(रघुवंश ९। ८०)

'महाराज! आपने मुझे यह शाप नहीं दिया है, वरन् वरदान दिया है। आपने मुझपर बड़ी कृपा की है। मैं भले ही मर जाऊँ, और मरना तो एक दिन पड़ेगा ही, परंतु मेरे पुत्र तो होगा। मैंने अभीतक पुत्रका मुखकमल नहीं देखा है। जैसे आग धरतीको जलाकर भी उसे उपजाऊ बना देती है, उसी प्रकार मेरा वंश तो उपजाऊ हो जायगा।'

कितनी पावन भावना है कि शाप ही उच्चकोटिका वरदान सिद्ध हुआ। शाप तो एक प्रकारकी आहकी अभिव्यक्ति है, परंतु श्रवणकुमारके माँ-बाप तो साधु ठहरे और **'साधु ते होय न कारज हानी'**—साधुसे कार्यकी हानि नहीं हो सकती, तो उनके शापमें भी वरदान छिपा हुआ था। हमारे शास्त्रोंमें अभिशापके प्रसंग भी कल्याणकारी शिक्षा देते हैं।

क्रोधावतार दुर्वासासे मसखरे यादवोंने पूछा कि इस स्त्रीके क्या पैदा होगा लड़का कि लड़की? बात यह थी कि शरारती लोग साम्बके पेटसे एक कढ़ाई बाँधकर उसे गर्भवती स्त्रीका रूप बनाकर ले गये थे। बर्रेके छत्तेसे हाथ लगाना खतरेसे खाली नहीं होता। दुर्वासाने शाप दे ही दिया कि इसके पेटसे जो पैदा होगा उससे यादव-वंश नष्ट हो जायगा। तो दुर्वासाका शाप ही यादव-वंशके नाशका कारण बना। ऋषि-मुनियोंसे ऐसा मसखरा करना अशिष्टता एवं धृष्टता थी, अतः शापका प्रसंग आया।

यह मनुष्यका स्वभाव है कि कोई भी दुःख नहीं चाहता है, सभी अपने-अपने सुखकी तलाशमें हैं। सभीको सुख चाहिये, परंतु एक ऐसा भी भगवान्का भक्त है, जो भगवान्से सुखकी कामना नहीं करता। भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे विदा होते समय पाण्डव-माता कुन्तीसे मिलने गये और उनसे विनय की कि क्या वरदान चाहिये? कुन्ती बड़ी ही गुणवती और भगवद्-भक्त थीं। कृष्ण ही एकमात्र उनके उद्धारक थे। श्रीकृष्णके कहनेपर वे वरदान माँगती हैं। यह वरदान अनोखा वरदान है—**'विपदस्सन्तु मे सततं यत्र तत्र**

जगद्गुरो—'हे प्रभु ! आप मुझे विपत्तियाँ दीजिये। आप विपत्तियोंमें ही याद आते हैं और विपत्तियोंमें ही सहायताके लिये दौड़ आते हैं। विपत्ति न रहनेपर आपके दर्शन नहीं होंगे, अतएव आप हमें आपत्तियाँ, मुसीबतें दीजिये।' धन्य हो कुन्ती! प्रभुको सदा अपने सामने रखनेका तुमने इस वरदानके द्वारा कितना उत्तम रास्ता निकाला। यह है माँ कुन्तीका प्रभु-चरणोंमें प्रेम और अनुराग। दुःख तो बिना बुलाये आते रहते हैं और दुःखमें ही मनुष्यकी परीक्षा होती है—

विपदा हूँ सबसे भली जो थोड़े दिन होय।
हित अनहित या जगतमें जान परत सब कोय॥

दुःखमें ईश्वर अच्छी तरह याद आता है। कबीरकी वाणीमें—

सुखमें सुमिरन ना किया, दुखमें करता याद।
कह कबीर वा दासकी, कौन सुने फरियाद॥

अब आप एक विचित्र प्रकारके भगवद्भक्तको देखिये। प्रह्लादको उसके पिताने कितना सताया। परंतु प्रह्लादने धैर्य नहीं छोड़ा और जब नृसिंहभगवान् प्रकट हुए और प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा तो प्रह्लादने उत्तर दिया कि क्या मैं बनिया हूँ, जो लेन-देनकी बात करूँ। आप यदि वर देना ही चाहते हैं तो कृपया हमें दो वर दीजिये। (१) दीनबन्धो ! मेरी एक प्रार्थना है कि मेरे पिताने आपको भ्रातृहंता समझकर आपसे और आपका भक्त जानकर मुझसे जो द्रोह किया, वे आपकी कृपासे उस दोषसे बच जावें। आजकलका पुत्र होता तो यही माँगता कि मेरे पिताको इतना कठोर दण्ड दीजिये कि अन्य लोगोंके पिता भी शिक्षा ग्रहण कर लें! परंतु धन्य हो प्रह्लाद! **'संत न छाड़े संतई, कोटिन मिलें असंत।'** (२) दूसरा वरदान प्रह्लाद माँगते हैं कि आप यदि वर देना ही चाहते हैं तो मुझे कुछ भी माँगनेकी कभी कोई कामना ही उत्पन्न न हो। इस प्रकार प्रह्लादने भगवान्‌से जो वरदान माँगे वे अपने-आपमें अनुपम एवं अद्वितीय हैं। **'सकल कामनाहीन जे रामचरन रति लीन।'** इस प्रकारके भक्त सर्वश्रेष्ठ भक्तोंकी श्रेणीमें आते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी माँके बड़े ही लड़ैते लाल थे और माँ यशोदा साक्षात् मातृत्वकी मूर्ति थीं। अपनी लीलाके दौरान जब भगवान् श्रीकृष्ण किसी राक्षसको मारते और यशोदाजी पूछतीं कि लाला! तुमने यह कैसे किया तो वे सदैव यही समाधान प्रस्तुत करते **'तोहि सुमिरि मैं मारौं हाऊ'**। उनके हृदयमें माँके लिये असीम सम्मान और प्रेम था। वे जीवनभर माँकी गोदमें खेलना चाहते थे। उन्होंने संदीपनि गुरुजीसे वरदान माँगा था जो अपनेमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने माँगा—**'मातृहस्तेन भोजनम्'**। जबतक जीवन रहे, मैं माँके हाथसे भोजन करता रहूँ। यही हुआ भी। उनके परमधाम सिधारनेके पश्चात् ही उनकी माता देवकीने शरीर छोड़ा। यह अनूठा सौभाग्य है कि जीवनभर माँके हाथका भोजन मिले और इस नाते माताकी दीर्घतम आयु हो।

भगवान् शंकर एक औढरदानी देवता हैं। कहीं भी जगह न मिलनेपर उन्हींका द्वार मिलता है। वहाँ किसीको भी 'न' नहीं है। जब भगवान् श्रीराम वनवासकी तैयारी कर रहे थे तो महाराज दशरथ भगवान् शङ्करसे एक ऐसा वरदान माँग रहे थे, जो बड़ा ही विचित्र है—

तुम प्रेरक सबके हृदय सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तजि रहहिं गृह परिहर सील सनेहु॥

प्रत्येक माँ-बापकी यह कामना होती है कि उसका पुत्र सर्वगुणसम्पन्न हो। क्या ऐसा भी कोई बाप होगा जो अपने पुत्रको कदाचारी, अशील, अनाज्ञाकारी और अस्नेही बनानेके लिये देवताओंसे वरदान माँगे? यह एक अजीब बात है। भगवान् शंकर पशोपेशमें पड़ गये कि दशरथ माँग क्या रहे हैं! दशरथजी तो बस एक ही बात चाहते थे—

*

'लोचन ओट राम जनि होऊ'

वरदानका तात्पर्य इतना ही था, अवज्ञा आदि नहीं ।

एक भक्त हैं सुतीक्ष्णजी । प्रभु राम उनको दर्शन देने-हेतु उनके आश्रममें पधारे हैं । प्रभु राम उनकी अविरल भक्तिसे बहुत प्रसन्न हैं; इसलिये उनसे कहते हैं—'जो वर माँगहु देहु सो तोही ।' आप जो भी वरदान माँगेंगे, मैं दूँगा । मुनि बड़े ही चतुर हैं और प्रभुको ठगना चाहते हैं—

मुनि कह मैं वर कबहुँ न जाँचा । समुझि न परइ झूठ का साँचा ॥
तुमहिं नीक लागै रघुराई । सो मोहि देहु दास सुखदाई ॥

आपको जो अच्छा लगे सो दीजिये । मुझे तो कुछ समझ नहीं आता कि क्या सच है और क्या झूठ है । और, जब भगवान्ने 'अबिरल भगति बिरति बिग्याना'का वरदान स्वयं ही दे दिया तो मुनि कहने लगे कि आपने जो दिया सो तो मैंने पा लिया 'अब सो देहु मोहि जो भावा'। तो सुतीक्ष्णजीने एक खजाना पा लिया और उसकी लूटमें लगे हुए हैं । प्रभुके दरवाजे खुले हैं । कहाँ तो कह रहे थे कि 'समुझि न परइ झूठ का साँचा ।' कहाँ अब लगे हैं दनादन माँगनेमें और प्रभु राम देते ही जा रहे हैं—'एवमस्तु कहि रमानिवासा' । धन्य है ऐसे भक्त और उसके भगवान्को ।

प्रातःस्मरणीय श्रीमारुतिजीको कैसे विस्मृत किया जा सकता है, जिनके लिये प्रभु राम कह उठे—'तो सन तात उरिन मैं नाहीं' । जन्म-जन्मान्तरके लिये कर्जदार हो गये । मारुतिजी निष्काम प्रेमी भक्त थे । उनका सारा जीवन प्रभु रामके चरणोंमें अर्पित था । प्रभु राम कहने लगे 'प्रति उपकार करौं का तोरा । सन्मुख होइ न सकत मन मोरा ।' भक्तके सामने भगवान् नतमस्तक हैं । **'एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे'**—'एक-एक उपकारके बदलेमें एक-एक जन्म धारण कर प्रत्युपकार किये जावें तो कई जन्म धारण करनेपर भी तुम्हारे उपकारोंका बदला नहीं दिया जा सकता ।' प्रभुकी विवशता देखिये कि उनके वरदानोंका जैसे खजाना ही चुक गया हो, तभी तो तुलसीदासजीसे कहे बगैर नहीं रहा गया—

'रिनियाँ राजाराम भे, धनिक बने हनुमान ।' धन्य है ऐसे सेवकको जिन्होंने अपने प्रभुको अपने वशमें करके उनको जन्म-जन्मान्तरके लिये कर्जदार बना लिया !

सीता-खोजके पश्चात् प्रभु रामने हनुमान्जीको कहा था—**'सर्वस्वं दास्यामि ते कपे'**—'हे मारुति ! मैं अपना सर्वस्व तुम्हें समर्पित करता हूँ ।' वरदानकी यह उत्कृष्टता ऊँचे आदर्शकी जननी है ।

एक भक्त तो ऐसा है जो वरदानको उधार कर देता है और कहता है कि अभी हमें कुछ नहीं चाहिये, आपके पास कुछ है भी नहीं । छल्ला-मुदरिया उतार रहे हो, अतएव 'फिरती बार मोहि जो देबा । सो प्रसाद मैं सिर धरि लेबा ॥' 'वापिसीमें आप जो कुछ देंगे वही मैं शिरोधार्य कर लूँगा ।' ऐसा अकिंचन भक्त वह केवट था जो अनायास ही भगवान्का चरणामृत पाकर कृतार्थ हो गया था । उसे वरदानमें और क्या चाहिये ।

रावणके जीवित रहते हुए भी रामने विभीषणको वरदान देकर लंकाका राजा बना दिया और तिलक भी कर दिया । गोस्वामीजीको इस प्रकार बिना माँगे वरदान देनेकी बात शायद अच्छी न लगी हो, इसलिये उन्होंने कह ही दिया—

खीजें ते निज लोक दयो, रीझे ते दई लंक ।
अंधाधुंध सरकार है तुलसी भज्यो निसंक ॥

'रावणपर प्रभु नाराज हुए, तब तो उसे अपना लोक दे दिया और विभीषणपर जब प्रसन्न हुए तो केवल लंकाका राज्य देकर ही टरका दिया; इसलिये पता नहीं यह कैसी सरकार है ।' यहाँ कोई नियम नहीं है, यदि है तो केवल एक ही कि प्रभुके चरणोंमें समर्पित हो जाओ । प्रभुकी प्रपत्ति मङ्गलमयी है । वह प्रत्येक दशामें कल्याण करती है ।

नाम-जपकी आवश्यकता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

आप अनुग्रह करके मेरी एक बातको मान लें। वह ऐसी बात है, जो आपकी जानी हुई है, कोई नयी बात नहीं है। कोई भी भाई क्या ऐसा जानता है कि मैं पहले नहीं था, पीछे नहीं रहूँगा और अभी नहीं हूँ ? अपने विषयमें यह प्रश्न शरीरको लेकर नहीं है; क्योंकि शरीर तो पैदा होनेसे पहले नहीं था और मरनेके बाद नहीं रहेगा, परंतु मैं पहले नहीं था और आगे नहीं रहूँगा तथा मैं कभी नहीं था, ऐसा किसी भाई-बहिनको अपने अभावका अनुभव भी होता है क्या ? अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। हाँ, मैं क्या था, मैं क्या हूँ और मैं क्या रहूँगा ?—ऐसा ज्ञान चाहे भले ही न हो, परंतु मैं नहीं हूँ—ऐसा भाव कभी किसीके नहीं होता और यह सन्देह भी नहीं होता कि 'मैं कभी नहीं हूँ', प्रत्युत मैं तो हूँ ही—यह भाव सदैव बना ही रहता है।

आप जो कहते हैं कि 'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता है, अपना होनापन है, यह ऐसा होनापन है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसमें कभी कमी नहीं आती। तो फिर उसमें अभाव कैसे होगा ? उसमें अभाव होता ही नहीं, किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं होता। इसीलिये कहते हैं कि उसमें कमी नहीं होती। जब उसमें कमी नहीं होती, तो उसके लिये क्या चाहिये ? कुछ नहीं। चाहना तो कमीमें ही होती है। जब कमी नहीं है, तो चाहिये ही क्या ? अर्थात् कुछ नहीं चाहिये। वह स्वयं है, ज्यों-का-त्यों है। उसका और क्या है ? कुछ नहीं, अपना कहलानेवाला शरीर भी उसका अपना नहीं है, क्योंकि शरीर नाशवान् है, यह उसका कैसे हो सकता है ? जो नित्य-निरन्तर है, वह ज्यों-का-त्यों है, उसका कभी अभाव होता नहीं, उसमें कभी कमी आती नहीं तो उसके लिये करना क्या शेष रहा ? पाना क्या शेष रहा ? जानना क्या शेष रहा ? यह बात ठीक है, परंतु हमारे लिये तो पाना भी बाकी है, करना भी बाकी है, जानना भी बाकी है, इसमें यह बात ध्यान देनेकी है कि आप वास्तवमें जो हैं उसमें स्थित न होकर जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है ऐसे शरीरमें स्थित हो जाते हैं। उसमें स्थित होनेसे ही जानना बाकी है, करना बाकी है और पाना बाकी है।

इस बातको भी आप जानते हैं कि शरीर प्रतिक्षण बदलता है, कभी भी एकरूप नहीं रहता। अगर यह एकरूपसे रहता तो बचपनवाला शरीर अभी भी रहना चाहिये था, पर बचपनका शरीर अभी नहीं है, यह सबका अनुभव है। बचपन बदला है, वह अमुक दिन, अमुक महीने और अमुक वर्षमें नहीं बदला है, प्रत्युत वह प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक महीने, प्रत्येक दिनमें बदला है, इतना ही नहीं, वह प्रत्येक घंटे, प्रत्येक मिनट और प्रत्येक सेकेण्डमें बदला है। तो केवल बदलनेके पुंजका नाम शरीर है। बदलनेका पुंज यानी केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तनका नाम शरीर हुआ। इसमें कोई सन्देहकी बात है क्या ?

स्थूल बुद्धिसे पदार्थ दीखते हैं, परंतु वास्तवमें पदार्थ हैं कहाँ ? वस्तु है कहाँ ? केवल परिवर्तनरूप क्रिया-ही-क्रिया है, वस्तु है ही नहीं। जैसे पंखा चलता है तो गोल चक्कर दीखता है, परंतु गोल चक्कर है नहीं, ऐसे ही तेजीसे परिवर्तन होनेके कारण ये पदार्थ हैं—रूपसे दीखते हैं; यह शरीर है—ऐसा दीखता है। इसमें 'है' कहनेमें देरी लगती है, पर इनके बदलनेमें देरी नहीं लगती। यह हरदम बदलता है। जब

प्रतिक्षण बदलता है तो पहलेवाला रूप नहीं रहता और आप वे ही रहते हो। आप कभी बदलते नहीं, इसीको 'है' कहते हैं, पर आप जब इस परिवर्तनशील शरीरके साथ अपनेको मिला लेते हैं, तब कामना, इच्छा, तृष्णा आदि पैदा होती हैं। इसीमें सब अनर्थ होते हैं।

मैं नित्य-निरन्तर हूँ, अगर मेरा रहना नित्य-निरन्तर नहीं होता तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अब क्यों भोगना पड़ता? और अब जो कर्म करेंगे, उनका फल आगे किसको भोगना पड़ेगा? हम पहले थे, तब न कर्म किये, जिनका अब भोग हो रहा है और अगाड़ी रहेंगे तभी तो अभी किये कर्मोंका फल भोगना पड़ेगा। जो हमने पहले कर्म किये थे, वे भी परिवर्तनशीलके साथ मिलकर ही किये; उनका फल भोगना होता है और अब भी इसके साथ मिलकर कर्म करते हैं तो उनका भी फल इस शरीरमें अथवा दूसरे शरीरोंमें भोगना पड़ेगा। अगर हम इस शरीरसे न मिले तो न पहलेका कर्म स्पर्श करेगा, न अभीका करेगा और न भविष्यमें जन्म लेकर कर्मोंका फल भोगना होगा; क्योंकि वह है, ज्यों-का-त्यों है। उसका अनुभव करनेवाले महापुरुषोंने कहा है—

है सो सुन्दर है सदा नहीं सो सुन्दर नाहिं।
नहीं सो परगट देखिये है सो दीखे नाहिं॥

'है' दीखे कैसे? क्योंकि वह सबका द्रष्टा है। जैसे आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँख नहीं दीखती है, परंतु जिससे देखते हैं, वह आँख है। इसी प्रकार हम अपने होनेपनको देख नहीं सकते। जिससे देखते हैं, वह 'है' है अर्थात् जिस 'है'पनसे यह सब दीख रहा है, वह 'है'पन ज्यों-का-त्यों है। इस बातको आप मान लें। आप कहते हैं कि हमें उसका अनुभव हो रहा है। उस अनुभवके लिये आप जिज्ञासा करें, व्याकुल हो जायँ। 'राम-राम' करते रहें, परंतु 'है' वहाँ भी है, जहाँसे आप 'राम-राम' करते हैं। अर्थात् वह सब जगह है।

आप कृपा करके यह एक बात मान लो कि वह 'है' सब समय, सब जगह और सबमें है। यह मत मानो कि वह दूर है, आयेगा, मिलेगा अथवा हम उसके पास जायेंगे, तब कहीं मिलन होगा। यदि ऐसी मान्यता बना रखी है तो आप भूले हुए हैं। इसमें आप तो समझते हैं कि हम भगवान्‌के पास जा रहे हैं, पर वास्तवमें आप भगवान्‌से अपनेको दूर कर रहे हैं। भगवान्‌से अपने सम्बन्धके अभावको दृढ़ कर रहे हैं। 'अभी नहीं मिलेंगे', 'अभी नहीं मिलेंगे'—ऐसी धारणा रखते हुए 'राम-राम-राम' ऐसा जप कर रहे हैं। इस वास्ते कृपा करके इस धारणाको छोड़ दो। हमको अनुभव नहीं हो रहा है—यह बात मानो तो कोई हरज नहीं। परंतु भगवान् तो हैं। 'मैं हूँ'—इसमें भी वे हैं; मन, बुद्धि, वाणीमें भी वे हैं। जहाँ 'राम-राम' कह रहे हैं, वहाँ भी हैं। हम सुन रहे हैं, वहाँ भी वे हैं—ऐसा मान लो। भले ही वे आपकी समझमें आज नहीं आते, दीखते नहीं, पर वे हैं, इसमें सन्देह मत करो। सन्तोंने, महात्माओंने कहा है कि 'वे हैं'।

बस 'है'—ऐसा मानते हुए लगनपूर्वक 'राम-राम' जप करो तो बहुत जल्दी अनुभव हो जायगा, पर जबतक ऐसा अनुभव न हो, तबतक जिज्ञासा जोरदार रखो, 'राम-राम' जपना छोड़ो मत, क्योंकि संसारमें इसके सिवाय और कोई सहारा नहीं है। मरनेपर भी कहते हैं—'राम-नाम सत्य है'। शरीर-संसार असत् है, इस वास्ते 'राम-राम' कहते रहो। 'र'में, 'आ'में, 'म'में, जीभमें, मनमें, फुरणामें, चिन्तनमें, बुद्धिमें 'मैं'पनमें और सब जगह वह परमात्मा परिपूर्ण है। जो सबमें रमण करता है और सब उसीमें ही रहते हैं, उसका नाम 'राम' है।

यह 'राम'-नामका जप महान् साधन है और 'राम'-नाम लेना सुगम भी बहुत है। लकवाकी बीमारीवाले एक भाई थे, वे दूसरा कुछ नहीं बोल

सकते थे, पर 'राम-राम' कर सकते थे। उनसे भी पहले एक भाई कलकत्तामें मिले थे, वे भी कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल 'रा म' कह सकते थे। तात्पर्य है कि लोकमें, परलोकमें, सब जगह शान्ति देनेवाला, सुलभ तथा सबको सुख देनेवाला है यह 'राम'-नाम!

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

आप हमारी यह एक बात मान लो, वह चाहे श्रद्धासे मान लो, विश्वाससे मान लो, युक्तिसे मान लो, अनुभवसे मान लो, चाहे सोच-समझकर मान लो। यह दृढ़तासे मान लो कि वह परमात्मा सब जगह है, सबमें है, सब वस्तुओंमें है, सबका अपना है, सबका सुहृद् है—वही हमारा है। पर साधक मानता है कि भजन करनेसे बादमें भगवान् मिलेंगे, उससे बड़ी भूल इसमें यही होती है कि वह भविष्यकी आशा रखता है और भविष्यकी आशा यह मान लो कि परमात्मा तो मिला हुआ ही है। हमें दीखता नहीं, पर वह है अवश्य, हमें अनुभव नहीं हुआ, पर वह है। भगवान्का अभाव स्वीकार मत करो। अपनेको अनुभव नहीं हो रहा है, अनुभव कैसे हो, इसके लिये रात-दिन 'राम! राम! राम! राम! राम!' इस प्रकार रट लगाओ। फिर देखो तमाशा! कितनी जल्दी तत्त्वकी अनुभूति होती है।

जो जीव चाहे मुक्ति को तो सुमिरीजै राम।
दरिया गेले चालताँ जैसे आवे गाम॥

नारायण! नारायण! नारायण!

भक्ति-संजीवनी भागवती कथा (३)

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजके प्रवचनका सारांश)

तुंगभद्रा नदीके किनारे एक ग्राम था। वहाँ आत्मदेव नामक एक ब्राह्मण अपनी पत्नी धुंधुलीके साथ रहते थे। आत्मदेव पवित्र थे। परंतु वह धुंधुली स्वभावकी क्रूर, झगड़नेवाली और दूसरोंकी नुक्ताचीनी करनेवाली थी। आत्मदेव निःसंतान थे। संतानके अभावसे आत्मदेव दुःखी थे। संतानके लिये आत्मदेवने बहुत प्रयत्न किये, परंतु कोई सफलता नहीं मिली। अतः उन्होंने आत्मत्याग करनेका निश्चय किया। आत्मदेवने वनकी ओर प्रयाण किया। घूमते-फिरते रास्तेमें नदीका किनारा आया। वहाँ उन्हें एक महात्मा मिले। आत्मदेव उन महात्माके पास गये और रोने लगे। महात्माने उनके दुःखका कारण पूछा।

आत्मदेवने कहा कि मेरे पास खाने-पीनेके लिये तो बहुत कुछ है, परंतु मेरे बाद खानेवाला कोई नहीं है, अतः मैं दुखी हूँ। इसलिये मरनेकी इच्छासे यहाँ आत्मत्याग करने आया हूँ। महात्माने कहा कि तुम्हें कोई संतान नहीं है, यह तो परमात्माकी कृपा है। पुत्र-परिवार न हो तो समझ लो कि श्रीठाकुरजीने तुम्हारे हाथोंसे ही सब कुछ करानेको तुम्हारे भाग्यमें लिखा है और इसीलिये तुम्हें कोई संतान नहीं दी है। पुत्र तो दुःखरूप है। महात्माकी बात कितनी महत्त्वकी थी।

ईश्वर जैसी भी स्थितिमें तुम्हें रखे वैसी ही स्थितिमें संतोष मानकर ईश्वरका स्मरण करना चाहिये। तुकाराम महाराज कहते हैं—

ठेवाले अनंते तै सैची रहावै।
चिती असो द्यावे समाधान॥

अतः ईश्वर जिस स्थितिमें रखे उसीमें आनन्द मानना चाहिये और उसी स्थितिमें भगवान्का भजन कर जीवन सार्थक करे। आत्महनन महापाप है।

एक बार एकनाथ महाराज विट्ठलनाथजीके मन्दिरमें दर्शन करने गये। एकनाथजीको सुयोग्य पत्नी मिली थी, इसलिये वे श्रीभगवान्का उपकार मानते थे। वे

कहते थे कि मुझे स्त्रीका संग नहीं, सत्संग दिया है। थोड़ी देर बाद उस मन्दिरमें भक्त तुकारामजी दर्शन करने आये। तुकारामकी पत्नी कर्कशा थी। कर्कशा पत्नीके लिये भी तुकारामजी भगवान्‌का उपकार मानते थे। वे कहते थे कि 'भगवन्! यदि तुमने अच्छी और सुंदर पत्नी दी होती तो मैं सारे दिन उसीके पीछे लगा रहता और तुमको भी भूल जाता। अतः मेरा तो कर्कशा पत्नी मिलनेपर भी भला ही हुआ है।'

एकनाथजीको अनुकूल पत्नी मिली तो उन्हें आनन्द है। तुकारामजीको प्रतिकूल पत्नी मिली तो उन्हें भी आनन्द है। दोनोंको अपनी-अपनी परिस्थितिमें संतोष है और इसे वे भगवान्‌का उपकार मानते हैं।

पत्नीकी मृत्यु हुई तो नरसिंह मेहताने भी आनन्द ही माना और कहा—

भलूँ थयुँ भाँगी जँजाल।
सुखे भजीशुँ श्री गोपाल॥

अर्थात् 'अच्छा हुआ कि कुटुम्बका झंझट छूट गया। अब तो बड़े सुखसे निश्चिन्त मनसे मैं श्रीगोपाल-का भजन कर सकूँगा।'

एक संतकी पत्नी अनुकूल थी, दूसरेकी प्रतिकूला थी और तीसरेकी संसारको छोड़कर चली गयी। फिर भी ये तीनों महात्मा अपनी-अपनी परिस्थितिमें संतुष्ट हैं। **जाही बिधि राखे राम ताही बिधि रहिये'** का कितना ज्वलन्त दृष्टान्त है।

सच्चा वैष्णव वही है कि जो किसी भी परिस्थितिमें परमात्माकी कृपाका ही अनुभव करता है और मनको शान्त और संतुष्ट रखता है। मनको शान्त रखना भी बड़ा पुण्य है।

माता और पिताको अपने पुत्रके लिये बहुत चिंता रहती है। परंतु पुत्रैषणाके साथ-साथ अनेक वासनाएँ भी आती हैं। पुत्रैषणाके पीछे वित्तैषणा और वित्तैषणाके पीछे लोकैषणा जागती है। ये तीनों एषणाएँ संसार-बन्धनको और दृढ़ बनाती हैं।

हाँ, तो आत्मदेवने उन महात्मासे कहा कि मुझे पुत्र दो; क्योंकि पुत्र ही पिताकी सद्‌गति देता है; अपुत्रकी गति नहीं होती—**'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।'** महात्मा आत्मदेवको समझाते हैं कि श्रुति भगवती एक स्थानपर कहती है कि पुत्रसे मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति भक्तिसे होती है।

वंशके रक्षणके लिये सत्कर्म करो। यदि पुत्र ही सद्‌गति दे सकता हो तो संसारमें प्रायः सभीके पुत्र होते हैं, अतः उन सभीको सद्‌गति मिलनी चाहिये। पिताको ऐसी आशा कभी नहीं रखनी चाहिये कि मेरा पुत्र श्राद्ध करेगा तो मेरी सद्‌गति हो जायगी। श्राद्ध करनेसे वह जीव अच्छी योनिमें तो जाता है, परंतु ऐसा मत समझो कि वह जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट ही जायेगा।

श्राद्ध और पिण्डदान मुक्ति नहीं दिला सकते। श्राद्धकर्म धर्म है। श्राद्ध करनेसे नरकसे तो छुटकारा मिलता है, परंतु केवल श्राद्ध करनेसे मुक्ति नहीं मिलती। श्राद्ध करनेकी मनाही नहीं करते हैं। श्राद्ध करनेसे पितृगण प्रसन्न होते हैं और आशीर्वाद देते हैं। श्राद्धकर्म कर्त्तव्य है। पर उसका विशिष्ट अर्थ भी है।

पिण्डदानका सही अर्थ कोई समझता नहीं है। इस शरीरको पिण्ड कहते हैं। इसे परमात्माको अर्पण करना आध्यात्मिक, तात्त्विक पिण्डदान है। यही निश्चय करना है कि मुझे अपना जीवन ईश्वरको अर्पण करना है और इसी प्रकार जीवन जो ईश्वरको अर्पण करे, उसीका जीवन सार्थक है और उसीका पिण्डदान सच्चा है। यदि केवल आटेके पिण्डदानसे ही मुक्ति मिल जाती तो ऋषि-मुनि ध्यान, योग, तप आदि साधनोंका निर्देश क्यों करते?

केवल सत्कर्म ही जीवन-मृत्युके त्राससे छुड़ाता है और वह सत्कर्म भी अपना ही किया हुआ होवे। अपनी आत्माका उद्धार स्वयं ही करना है। जीव स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता है। श्रीगीताजीमें स्पष्ट कहा है—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'

(गीता ६। ५)

'स्वयं अपने द्वारा ही अपनी आत्माका संसारसमुद्रसे उद्धार करो और अपनी आत्माको अधोगतिकी ओर न ले जाओ।' जीवका उद्धार वह स्वयं न करेगा तो और कौन करेगा? मनुष्यका अपने सिवा और कौन बड़ा हितकारी हो सकता है? यदि वह स्वयं अपना श्रेय न करेगा तो पुत्रादि क्या करेंगे?

जो ईश्वरके लिये जीता है, उसे अवश्य मुक्ति मिलती है।

श्रुति भगवती तो कहती है—जबतक ईश्वरका अपरोक्ष अनुभव न हो, ज्ञान न हो, तबतक मुक्ति मिलती ही नहीं है।

मृत्युके पहले जो भगवान्‌का अनुभव करते हैं, उन्हें ही मुक्ति मिलती है। परमात्माके अपरोक्ष साक्षात्कार बिना मुक्ति नहीं मिलती। श्रुतिवचन है—**'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'**

'उसे जानकर ही मनुष्य मृत्युका उल्लंघन कर सकता है। परमपदकी प्राप्तिके लिये इसके सिवा अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।' श्रीभगवान्‌को जाने बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। केवल श्राद्ध करनेसे मुक्ति नहीं मिलती है।

यदि तुम पिण्डदान करोगे अर्थात् तुम अपना शरीर ही श्रीपरमात्माको अर्पण करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।

अपना पिण्डदान तुम स्वयं अपने हाथोंसे ही करो, वही उत्तम है। जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है। निश्चय करो कि इस शरीररूपी पिण्डको श्रीपरमात्माको दान करना है। तुम अपना पिण्डदान स्वयं ही क्यों नहीं करते हो? घरमें जो कुछ है वह सब धर्मकार्यमें लगा दो और नारायण-नारायणका ज . करो।

आत्मदेवको महात्माकी बात नहीं जँची। उसने कहा कि पुत्रसुखसे आप संन्यासीगण अपरिचित हैं। अतः आप ऐसा कहते हैं।

माता-पिताकी गोद बालक चाहे जिस तरह गंदी करे, फिर भी वे प्रसन्न होते हैं। असुखमें सुखका अनुभव करना ही संसारी पुरुषोंका नियम है।

महात्माने सुंदर उपदेश दिया, फिर भी आत्मदेवने दुराग्रह करते हुए कहा कि मुझे पुत्र दो, वरना मैं प्राणत्याग करूँगा। महात्माको दया आयी। उन्होंने एक फल देकर कहा कि इस फलको तुम अपनी पत्नीको खिलाना। तुम्हारे यहाँ योग्य पुत्र होगा।

आत्मदेव फल लेकर अपने घर लौटा। पत्नीको फल दिया। धुंधुली फलको खानेके बजाय स्वयं तर्क-कुतर्क करने लगी। वह सोचती है कि फल खानेपर मैं गर्भवती होऊँगी और परिणामतः दुःखी होऊँगी। बालकके लालन-पालन करनेमें भी कितना बड़ा दुःख है। उसने अपनी छोटी बहनसे यह बात कही तो उसने युक्ति बतायी कि मुझे बालक होनेवाला ही है। उसे मैं तुझे दे दूँगी। तू गर्भवती होनेका नाटक कर।

धुंधुलीको पुत्र-(फल-) की इच्छा तो है, किंतु बिना कोई दुःख झेले। यह मनुष्यका स्वभाव है कि उसको सुखकी तो इच्छा है, किंतु बिना किसी प्रयत्नके और बिना किसी कष्टके।

मनुष्य पुण्य करना नहीं चाहता, फिर भी पुण्यके फलकी इच्छा करता है और पाप करता है, फिर भी पापके फलको नहीं चाहता है।

छोटी बहनके कहनेपर धुंधुलीने वह फल गायको खिला दिया और स्वयं गर्भवती होनेका नाटक करने लगी। बहनका पुत्र ले आयी और जाहिर किया कि वह मेरा पुत्र है। धुंधुलीने अपने पुत्रका नाम धुंधुकारी रखा। दूसरी ओर जिस गायको वह फल खिलाया गया था, उसने गाय-जैसे कानोंवाले मनुष्याकार बालकको जन्म दिया। उसका नाम गोकर्ण रखा गया। दोनों बालक बड़े हुए। गोकर्ण पण्डित और ज्ञानी हुआ और धुंधुकारी दुष्ट निकला।

श्रीभागवतकी कथा तीन प्रकारसे है; आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। जरा सोचेंगे तो समझमें आयेगा।

मानवकाया ही तुंगभद्रा है। भद्राका अर्थ है कल्याण करनेवाली और तुंगका अर्थ है अधिक। अत्यधिक कल्याण करनेवाली नदी ही तुंगभद्रा नदी है और वह आध्यात्मिक दृष्टिसे मनुष्यका-शरीर है।

मानव अपनी कायाके द्वारा ही आत्मदेव हो सकता है।

जो अपनी आत्माको स्वयं देव बनाये, वही आत्मदेव है। आत्मदेव ही जीवात्मा है। हम सब आत्मदेव हैं। नर ही नारायण बनता है। मानवदेहमें रहा हुआ जीव देव बन सकता है और दूसरोंको भी देव बना सकता है।

पशु अपने शरीरसे अपना कल्याण नहीं कर सकते। बुद्धिवाला प्राणी होनेके कारण मनुष्य अपने शरीरसे अपना तथा दूसरोंका कल्याण कर सकता है।

क्रोध करनेवाली और कुतर्क करनेवाली धुंधुली ही बुद्धि है। प्रत्येक घरमें वह धुंधुली होती है। धुंधुली कथामें भी ऊधम मचाती है। द्विधा बुद्धि, द्विधा वृत्ति ही धुंधुली है। ऐसी द्विधा बुद्धि जबतक रहती है, तबतक आत्मशक्ति जागृत नहीं होती।

बुद्धि दूसरोंकी बातोंमें नाहक टाँग अड़ाती है। यह बहुत बड़ा पाप है।

मैं कौन हूँ, मेरे स्वामी कौन हैं इसका विचार बुद्धि नहीं करती है।

बुद्धिके साथ आत्माका विवाह (सम्बन्ध) तो हुआ, किंतु जबतक उसे कोई महात्मा न मिले, सत्संग न हो, तबतक विवेक नहीं आता है और विवेकरूपी पुत्रका जन्म नहीं होता। विवेक ही आत्माका पुत्र है। और विवेक बिना सत्संग होता नहीं—

'बिनु सत्संग बिबेक न होई।'

विवेक सत्संगसे जागृत होता है और विवेक आत्माको आनन्दित करता है। विवेकके बिना हरि-कथा कैसी ?

यदि आत्मा और बुद्धिके सम्बन्धसे विवेकरूपी पुत्रका जन्म नहीं होता है तो संसाररूपी नदीमें जीवी डूब मरता है। इसीसे तो आत्मदेव गङ्गाके किनारेपर डूब मरनेके लिये जाता है।

स्वयं देव बननेकी और दूसरोंको देव बनानेकी शक्ति आत्मामें है, किंतु इस आत्मशक्तिको जागृत करना है। हनुमान्‌जी समर्थ थे, किंतु जाम्बवान्‌ने जब उनको अपने स्वरूपका ज्ञान कराया, तभी उन्हें अपने स्वरूपका ज्ञान हुआ।

आत्मशक्ति सत्संगसे जागृत होती है। सत्संगके बिना जीवनमें दिव्यता नहीं आती। सत्सङ्गसे—

'काक होहिं पिक बकउ मराला।'

संत-महात्माद्वारा दिया गया विवेकरूपी फल बुद्धिको पसंद नहीं है।

बुद्धि धुंधुलीकी छोटी बहन है। मन बुद्धिकी सलाह लेता है तो दुखी होता है। मन कई बार आत्माको धोखा देता है। मन स्वार्थी है। मन जो कुछ कहे उसे नहीं करना चाहिये। सलाह केवल ईश्वरकी ही लेनी चाहिये।

कुछ विचार करो। आत्मदेवकी आत्मा भोली है। उसे मन-बुद्धि बार-बार धोखा देते हैं। मनकी सलाह मत लो। आत्मदेव मन-बुद्धिका छल समझ नहीं सका।

फल गायको खिलाया! गोका अर्थ इन्द्रिय-भक्ति आदि होता है। फल गायको अर्थात् इन्द्रियको खिलाया।

सूतजी समझाते हैं कि सत्संगसे तुरंत ही इन्द्रियोंकी शुद्धि नहीं होती। मन और बुद्धि जब भागवत और भगवान्‌का आसरा लेंगे तभी शुद्ध होंगे।

धुंधुकारी कौन है? जो सारा समय द्रव्यसुख और कामसुखके चिन्तनमें व्यतीत करे। जिसके जीवनमें धर्म नहीं, किंतु कामसुख और द्रव्यसुख प्रधान है, वही धुंधुकारी है।

सूतजी सावधान करते हैं और कहते हैं कि बड़ा होनेपर धुंधुकारी पाँच वेश्याओंमें फँस जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये पाँच विषय ही वेश्याएँ हैं। ये पाँच विषय ही धुंधुकारी अर्थात् जीवको बाँधते हैं।

वह शवके हाथोंसे खाता था। साफ लिखा है—**'शवहस्ते भोजनम्'**। शवके हाथ कौन-से हैं? जो हाथ परोपकार नहीं करते, वही हाथ शवके हाथ हैं।

जिन हाथोंसे श्रीकृष्णकी सेवा न हो, जो हाथ परोपकार न करें, वे हाथ शवके हाथ ही हैं।

धुंधुकारी स्नान और शौचक्रियासे हीन था। कामी था, अतः स्नान तो करता ही होगा। परंतु स्नानके बाद संध्या-सेवा न करे तो वह स्नान व्यर्थ ही है। अतः कहा गया है कि वह स्नान नहीं करता था।

स्नान करनेके पश्चात् सत्कर्म न हो तो वह स्नान पशुस्नान है। वह स्नान किस कामका जो स्नान केवल शरीरको ही स्वच्छ रखनेके लिये हो।

स्नान करनेके बाद सेवा, संध्या, गायत्री न हो तो वह स्नान भी पाप हो जाता है। शास्त्रोंमें तीन प्रकारके स्नान बताये गये हैं। उनमें ऋषिस्नान श्रेष्ठ है। उषाकालमें ४ से ५ बजेके समयमें जो स्नान किया जाय वह ऋषिस्नान है। इसके बाद ५ से ६॥ बजे तकके समयमें किया गया स्नान मनुष्यस्नान है और ६॥ बजेके बाद किया जानेवाला स्नान राक्षसी स्नान है।

भगवान् सूर्यनारायणके उदयके पहले ही दन्तधावन, शौच-स्नान आदि करना योग्य है। इसके बाद सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ करना कर्त्तव्य है।

बुद्धिके स्वामी सूर्यदेव हैं। उनकी संध्या करनेसे बुद्धि तेज होती है। स्नान और संध्या नियमित करो। सम्यक् ध्यान ही संध्या है। संध्यामें भगवान्‌का ध्यान अवश्य करो।

नित्य सत्कर्म किये बिना किया जानेवाला भोजन, भोजन नहीं है। ऐसा मनुष्य भोजन नहीं करता है, किंतु पापका प्राशन करता है।

गीताजीमें कहा गया है—

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।'
(गीता ३। १३)

जो पापी लोग केवल अपने शरीरके पोषणके लिये भोजन करते हैं, वे पापका भोजन कर रहे हैं। अतः हमेशा सत्कर्म करो। आयुष्यका सदुपयोग करो।

तन और मनको दण्ड दोगे तो पापका क्षय होगा और पुण्यकी वृद्धि होगी, अपने मनको आप स्वयं दण्ड नहीं देंगे तो और कौन देगा?

पुत्रके दुराचरणोंको देखकर आत्मदेवको ग्लानि हुई। उन्होंने सोचा कि वे पुत्रहीन ही रहते तो अच्छा होता। धुंधुकारीने सारी संपत्ति लुटा दी। अब तो वह माता-पिताको पीटने भी लगा।

पिताके दुःखको देखकर गोकर्ण इनके पास आया। गोकर्ण पिताको वैराग्यका उपदेश देता है। यह संसार असार है और दुःखरूप तथा मोहसे बाँधनेवाला है। किसका पुत्र और किसका धन!

संसारको बंध्यासुतकी उपमा दी गयी है। संसार मायाका पुत्र है और जब माया मिथ्या है तो संसार वास्तविक कैसे हो सकता है?

गोकर्ण आत्मदेवसे कहता है कि आप अब घर-बार छोड़कर वनगमन कीजिये। घरके मोहका त्याग करें। सब कुछ समझ-बूझकर स्वयं छोड़ दें, नहीं तो काल बलात् छुड़ायेगा।

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य अ० ४ श्लोक ७९)

'यह देह हाड़, माँस और रुधिरका पिण्ड है। इसे अपना मानना छोड़ दो। स्त्री-पुत्रादिकी ममता छोड़ो। यह संसार क्षणभंगुर है। इसमेंसे किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उससे राग, मोह न करो। केवल वैराग्यके रसिक बनो और भगवान्‌की भक्तिमें डूब जाओ।'

संसार-मोहके त्यागे बिना भक्ति नहीं होती—

'मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।'

किसी भी प्रकारसे मनको सांसारिक विषयोंमेंसे वीतरागी करके प्रभु-प्रेममें लगाओ। संसारासक्ति जबतक नष्ट न होगी तबतक भगवदासक्ति सिद्ध न होगी। संसारके विषयोंमें मत फँसे रहो। ठाकुरजीके चरणोंमें रहो।

यह देह अपनी नहीं है; कारण इसे हम हमेशा नहीं रख सकेंगे। और अपना होगा ही कौन?

पिताजी! अब बहुत गुजर गयी और थोड़ी ही रही। गङ्गा-किनारे जाकर ठाकुरजीकी सेवा करें—**'बहुत गयी थोड़ी रही नारायण अब चेत'**। मनमें विक्षेप होनेपर उसे कृष्ण-लीलाकी कथामें लगा दें। भावना रखेंगे तो हृदयका परिवर्तन होगा। सेवा और सत्कर्ममें परदोषदर्शन विघ्न करता है। अतः परदोषदर्शनका त्याग करें।

पिताजी! अब आप श्रीभगवान्‌का आश्रय लेकर भगवन्मय जीवन बितावें। भगवन्मय जीवन जीनेके लिये ध्यान, जप और पाठ अति आवश्यक हैं।

उत्तम पाठके छः अङ्ग हैं—मधुरता, स्पष्ट अक्षरोच्चारण, पदच्छेदका ज्ञान, धीरज, लय, सामर्थ्य और मधुर कण्ठ। पाठ शान्त चित्तसे करो। समझे बिना और अतिशय शीघ्रतासे पाठ मत करो।

आत्मदेव गङ्गा-किनारे आये। मानसी सेवा करने लगे। एकान्तमें बैठकर मनको एकाग्र करने लगे। मनकी एकाग्रता ही सिद्धिकी पहली सीढ़ी है।

चञ्चल मनको विवेकरूपी बोधसे सँभालो और ध्यान-मग्न रखो। संकल्प-विकल्पसे मनको दूर रखो। मानसिक सेवामें मनकी धारा अटूट रहनी चाहिये। ऐसी सेवा दिव्य होती है। उच्च स्वरसे जप-पाठ करनेसे मन एकाग्र होता है, उसका निरोध होता है।

आत्मदेव सतत भागवत-ध्यानमें तन्मय बने हैं।

निवृत्तिमें सतत सत्कर्म होना चाहिये। अन्यथा निवृत्तिमें भी पाप प्रकट होता है। लोक-कल्याण-कारक कर्म बन्धन-कारक नहीं होते।

स्वामी विवेकानन्दजीकी दृष्टिमें भागवती कृपाका स्वरूप

(लेखक—श्रीतेजबहादुरसिंहजी एम्० ए०)

[गताङ्क सं० ९ पृष्ठ-सं० ७८० से आगे]

एक भक्त माँके दर्शनके लिये असह्य छटपटाहटके कारण पागल हो गया; तब माँ स्वयं उसके लिये व्याकुल हो कहती है—'मेरे बेटे ! वह पुरुष धन्य है, जिसके ऊपर इस प्रकारका पागलपन आये। वैसे तो सारा विश्व ही पागल है—कोई धनके लिये, कोई स्त्रीके लिये, कोई कीर्तिके लिये; परंतु कोई भी ईश्वरके लिये पागल नहीं होता है। अतः वह पुरुष धन्य है, जो ईश्वर-प्रेमके कारण पागल हो गया। ऐसे भक्त कम ही हैं[1]।' मीराका जीवन इस बातका उदाहरण है। वह अपना घर-द्वार सब कुछ छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें दीवानी हो गयी। उसके लिये भगवान् ही सब कुछ हैं। वह अपने सम्पूर्ण अहंकार एवं सांसारिकताका परित्याग कर श्रीकृष्णके प्रेममें ही निमग्न हो गयी। इसी बातको स्वीकार करते हुए रामकृष्णने भी कहा है कि 'जबतक अहंकारका तत्त्व व्यक्तिके भीतर मौजूद है तबतक उसे न ज्ञान ही प्राप्त होता है और न मुक्ति ही। परिणामस्वरूप संसारमें बार-बार आना पड़ता है; क्योंकि जिसमें विषयबुद्धि है, उससे ईश्वर बहुत दूर है। विषयबुद्धि अगर न रहे तो ईश्वर उसकी मुट्ठीमें है।[2]' अतः 'जबतक अहंकार है तभीतक वे सृङ्गित व्यवहार हैं, 'मैं करता हूँ', 'मैं गाता हूँ'—इस प्रकारकी अहमियतयुक्त भावनाएँ मनुष्यको उस ईश्वरीय शक्तिके करीब नहीं पहुँचने देती हैं।[3]' अतः अपने क्षुद्र अहंका विनाश कर, अपना तन, मन, धन सब उसे ही अर्पण कर एक भक्त आर्त स्वरमें केवल माँको ही पुकारता है—'हे जगन्माता ! तू शीघ्र प्रकट हो जा; देख, मैं तेरे लिये कैसे तड़प रहा हूँ ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये, एकमात्र तुम्हारे चरणोंकी सेवा।[4]' वास्तवमें जबतक आद्याशक्तिके लिये सर्वस्व त्याग नहीं किया जाता, तबतक वे दर्शन ही नहीं देती हैं। हम यह भी जानते हैं कि जगन्माता सबको दर्शन देना चाहती हैं, परंतु हम स्वयं ही दर्शन नहीं करना चाहते; क्योंकि हम सांसारिक वस्तुओंमें आसक्त होते हुए आनन्द-भोगके इच्छुक हो जाते हैं और उन्हें विस्मृत कर देते हैं। पर जब हम तन, मन, सर्वस्व अर्पण करते हुए उसके लिये छटपटायेंगे तब उनकी कृपा अवश्य प्राप्त होगी। यही कारण है कि जिसका अहंकार नष्ट हो चुका है, वह प्रत्येक जगह भागवती कृपाका ही दर्शन करता है। अहंबुद्धिके कारण ही मनुष्य अपने और उस आद्याशक्ति-(ब्रह्म-) में भेद समझने लगता है। अहं तत्त्व विनष्ट होनेपर ही भेद-ज्ञान अभेदमें रूपान्तरित हो जाता है। रूपान्तरण होनेपर केवल ब्रह्म ही परमसत्ता रह जाता है। वही सगुण एवं निर्गुण रूपोंमें विद्यमान रहता है। उसीको वेदों, पुराणों एवं तन्त्रोंमें 'काली' या 'आद्याशक्ति' नाम दिया गया है।[5] वास्तवमें परमतत्त्व एक ही 'आद्याशक्ति माँ' है, केवल नाम पृथक् है। तालाब एक है, केवल घाट पृथक् हैं।

१–विवेकानन्द, विवेकानन्द-साहित्य, सप्तम खण्ड, पृ० २५२–५३।
२–श्रीरामकृष्णवचनामृत तृतीय खण्ड, पृ० १८४। ३–वही द्वितीय खण्ड, पृ० ८७।
४–विवेकानन्द, विवेकानन्द-साहित्य, सप्तम खण्ड, पृ० २५०।
५–श्रीरामकृष्णवचनामृत, द्वितीय खण्ड, पृ० ५०७।

भक्त हृदयके लिये उस आद्याशक्ति माँकी परम-वात्सल्यमयी कृपाको प्राप्त करना ही जीवनका उद्देश्य है। ज्ञानी एवं मूर्ख सभी उनकी कृपाके पात्र हैं। पिताका स्नेह सभी बच्चोंपर बराबर रहता है। सभीपर द्रवित होनेके कारण ईश्वर दयामय है। सभी मनुष्योंपर उसकी दया समान है। सृष्टिके सभी जीवोंपर उसकी कृपा समान ही होती है। सब कुछ उसकी इच्छासे ही चालित माना जाता है। स्वामीजी कहते हैं कि 'जो कुछ भी हो रहा है, सब 'माँ' ही करा रही हैं तथा वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं। यदि मेरे मुखसे कोई अच्छी बात निकलती है तो वे जगन्माताके ही शब्द होते हैं। मैं स्वयं कुछ नहीं हूँ।'[1] वास्तवमें मनुष्यकी स्वतन्त्र इच्छाका कोई अस्तित्व नहीं है; क्योंकि सभी कार्य ईश्वरकी इच्छासे ही सम्पन्न होते हैं तथा उनकी 'ना' से होनहार भी बंद हो जाता है।[2]

ध्यातव्य है कि ईश्वरीय शक्तिके आगे मनुष्यका कोई अस्तित्व नहीं है। सभी कार्य ईश्वरके इशारेपर होते हैं। मनुष्य केवल उन कर्मोंको करनेका आधार होता है। कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुन युद्ध न करनेके पक्षमें हताश होकर कहते हैं कि 'मैं अपने सगे-सम्बन्धियोंका वध नहीं करूँगा।' तत्पश्चात् श्रीकृष्णने ज्ञानोपदेशके द्वारा यह ज्ञान कराया कि तुम स्वयं युद्ध करोगे। तुम्हारा स्वभाव स्वयं तुमसे युद्ध करवायेगा। यह दिव्य कार्य तुम्हारे माध्यमसे ही सम्पन्न होगा[3]।

लौकिक शक्तियोंमें आबद्ध मानव जब यह समझता है कि यह अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्तिके द्वारा कार्य कर रहा है, तब सच्चाई कुछ और ही होती है। यह तो उसका व्यर्थका अहंकार है। मनुष्य कार्य कर रहा है; क्योंकि उसे किये बिना चैन कहीं नहीं मिलता है। इसी बातको रामकृष्णने इस प्रकार कहकर व्यक्त किया है—'एक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति कर्म इसलिये करता है कि उसे किये बिना चैन ही नहीं मिलता है। उसकी प्रकृति, उसका स्वभाव ही वस्तुतः उसे दायित्वोंको करनेकी प्रेरणा देता है और ऐसा इसलिये कि उन कर्मोंको करनेमें उसे रसकी, आनन्दकी प्रतीति होती है।[4] उसका स्वभाव स्वयं उसे कर्मोंको करनेके लिये विवश कर देता है। महाभारतके युद्धमें अर्जुनको न चाहते हुए भी स्वभाववश युद्ध करना ही पड़ा। मनुष्यका व्यर्थका अहंकार है और जबतक व्यक्तिको यह अभिमान बना हुआ है, उसे ईश्वरकी उपस्थितिका अहसास नहीं हो पाता है। पर जब यह अभिमान धुल जाता है, विश्वास, श्रद्धा एवं संतोंकी कृपासे मन पारदर्शी हो जाता है, तभी व्यक्ति सच्चाई देखता है कि 'मैं' कुछ नहीं हूँ', करनेवाले तो भगवान् स्वयं हैं। इस प्रकार ईश्वरकी शक्तिसे ही सबमें शक्ति है। कठपुतली बाजीगरके हाथसे खूब नाचती है, किंतु हाथसे छोड़ देनेपर वह हिलती-डुलतीतक नहीं। अस्तु, भागवती शक्तिकी कृपाको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको अपने अहंभावका, कर्तापनकी प्रतीतिका अतिक्रमण करना होगा। तभी उसके मङ्गलमय स्वरूपका ज्ञान हो जायेगा।

(समाप्त)
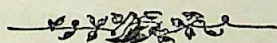
१–विवेकानन्द, विवेकानन्दसाहित्य, सप्तम खण्ड, पृ० २८५।

२–श्रीरामकृष्णवचनामृत, तृतीय खण्ड १८३।

३–वही पृ० ३९०। ४–श्रीरामकृष्णवचनामृत तृतीय खण्ड, पृ० ३९१–९२।

५–वही पृ० ३९२।

गीताका कर्मयोग—६७

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृष्ठ-संख्या ७४९ से आगे]

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

भावार्थ—अहिंसा आदि यमोंका एवं अपने-अपने यज्ञके व्रतों- (नियमों-) का पालन करनेवाले प्रयत्नशील योगियोंमें कितने ही 'द्रव्ययज्ञ' करनेवाले हैं तथा कितने ही 'तपोयज्ञ' करनेवाले हैं एवं कितने ही 'योगयज्ञ' करनेवाले हैं और कितने ही स्वाध्यायरूप 'ज्ञानयज्ञ' करनेवाले हैं ।

मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर उन्हें दूसरोंकी मानकर निष्कामभावसे दूसरोंके हितमें लगाना 'द्रव्ययज्ञ' है । अपने कर्तव्यका पालन करते समय स्वतः प्राप्त प्रतिकूलताको प्रसन्नतापूर्वक सहना 'तपोयज्ञ' है ।

शास्त्रविहित एकादशी आदि व्रत रखना, मौन धारण करना इत्यादि भी तपोयज्ञके अन्तर्गत आते हैं । यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगका अनुष्ठान करना 'योगयज्ञ' है । गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना, भगवन्नामका जप-कीर्तन करना, अपनी वृत्तियोंका अध्ययन करना आदि स्वाध्यायरूप 'ज्ञानयज्ञ' है ।

उपर्युक्त चारों साधन संसारमात्रके कल्याणके लिये केवल अपना कर्तव्य समझकर किये जायँ, तभी वे 'यज्ञ' कहलायेंगे ।

अन्वय—अपरे, संशितव्रताः, यतयः, द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः, तथा, योगयज्ञाः, च, स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः ॥२८॥

पदव्याख्या—**अपरे**—दूसरे (कितने ही) ।

संशितव्रताः यतयः—प्रशंसनीय व्रत करनेवाले प्रयत्नशील साधक ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (भोग-बुद्धिसे संग्रहका अभाव)—ये पाँच 'यम' हैं*, जिन्हें 'महाव्रत'के नामसे कहा गया है । शास्त्रोंमें इन महाव्रतोंकी बहुत प्रशंसा, महिमा है । इन व्रतोंका सार यही है कि मनुष्य संसारसे विमुख हो जाय । इन व्रतोंका पालन करनेवाले साधकोंके लिये यहाँ **'संशितव्रताः'** पद आया है । इसके सिवा प्रस्तुत श्लोकमें वर्णित चारों यज्ञोंमें जो-जो पालनीय व्रत अर्थात् नियम हैं, उनपर दृढ़ रहकर उनका पालन करनेवाले भी सब **'संशितव्रताः'** हैं । अपने-अपने यज्ञके अनुष्ठानमें प्रयत्नशील होनेके कारण उन्हें **'यतयः'** कहा गया है ।

'संशितव्रताः' पदके साथ ('द्रव्ययज्ञाः', 'तपोयज्ञाः', 'योगयज्ञाः' और 'ज्ञानयज्ञाः'की भाँति) **'यज्ञाः'** पद नहीं दिये जानेके कारण इसे अलग यज्ञ नहीं माना गया है ।

द्रव्ययज्ञाः—द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं ।

मात्र संसारके हितके उद्देश्यसे कुआँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना, अभावग्रस्त लोगोंको अन्न, जल, वस्त्र, औषध, पुस्तक आदि देना, दान करना इत्यादि सब 'द्रव्ययज्ञ' है । द्रव्य (तीनों शरीरोंसहित सम्पूर्ण पदार्थों-)को अपना और अपने लिये न मानकर निःस्वार्थ-भावसे उन्हींका मानकर उनकी सेवामें लगानेसे द्रव्ययज्ञ सिद्ध हो जाता है ।

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ (योगदर्शन २ । ३०)

शरीरादि जितनी वस्तुएँ हमारे पास हैं, उन्हींसे यज्ञ हो सकता है, अधिककी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य बालकसे उतनी ही आशा रखता है, जितना वह कर सकता है, फिर सर्वज्ञ भगवान् तथा संसार हमसे हमारी क्षमतासे अधिककी आशा कैसे रखेंगे ?

तपोयज्ञाः—(और कितने ही) तपोयज्ञ करनेवाले हैं।

अपने कर्तव्य-(स्वधर्म-)के पालनमें जो-जो प्रतिकूलताएँ, कठिनाइयाँ आयें, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सह लेना 'तपोयज्ञ' है। लोकहितार्थ एकादशी आदिका व्रत रखना, मौन धारण करना आदि भी 'तपोयज्ञ' अर्थात् तपस्यारूप यज्ञ है। परंतु प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, घटना आनेपर भी साधक प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता रहे—अपने कर्तव्यसे किञ्चित् भी विचलित न हो, तो यह सबसे बड़ी तपस्या है, जो शीघ्र सिद्धि देनेवाली होती है।

गाँवभरकी गंदगी, कूड़ा-करकट बाहर एक जगह इकट्ठा हो जाय, तो वह बुरा लगता है; परंतु वही कूड़ा-करकट खेतमें पड़ जाय, तो खेतीके लिये खादरूपसे बढ़िया सामग्री बन जाता है। इसी प्रकार प्रतिकूलता बुरी लगती है और उसे हम कूड़े-करकटकी तरह फेंक देते हैं अर्थात् उसे महत्त्व नहीं देते; परंतु वही प्रतिकूलता अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये बढ़िया सामग्री है। इसलिये प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष सहनेके समान दूसरा कोई तप नहीं है। भोगोंमें आसक्ति रहनेसे अनुकूलता अच्छी और प्रतिकूलता बुरी लगती है। इसी कारण प्रतिकूलताका महत्त्व समझमें नहीं आता।

तथा—और (दूसरे कितने ही)।

योगयज्ञाः—योगयज्ञ करनेवाले हैं।

यहाँ 'योगयज्ञ'से भगवान्‌का क्या अभिप्राय है, यह ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। अनुमानसे यहाँ योगयज्ञका अभिप्राय 'अष्टाङ्गयोग' का अनुष्ठान प्रतीत होता है। पातञ्जलयोगदर्शनमें वर्णित 'अष्टाङ्गयोग' इस प्रकार है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (२ । २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।' [इनका विस्तार उक्त ग्रन्थमें ही देखना चाहिये।]

मात्र संसारका परमहित करनेके उद्देश्यसे इस 'अष्टाङ्गयोग'का पालन करना 'योगयज्ञ' है।

च—और (कितने ही)।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः—स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं। केवल लोकहितके लिये गीता, रामायण, भागवत आदिका तथा वेद, उपनिषद् आदिका यथाधिकार मनन-विचारपूर्वक पठन-पाठन करना, अपनी वृत्तियोंका तथा जीवनका अध्ययन करना इत्यादि सब स्वाध्यायरूप 'ज्ञानयज्ञ' है।

गीताके अन्तमें भगवान्‌ने कहा है कि जो इस गीताशास्त्रका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है*। तात्पर्य यह है कि गीताका स्वाध्याय 'ज्ञानयज्ञ' है। गीताके भावोंमें गहरे उतरकर विचार करना, उसके भावोंको समझनेकी चेष्टा करना इत्यादि सब स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

* अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
(गीता १८ । ७०)

भावार्थ—यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले योगियोंमें कितने ही अपानवायुमें प्राणवायुकी आहुति देते हैं तथा कितने ही प्राणवायुमें अपानवायुकी आहुति देते हैं और कितने ही प्राण और अपान दोनोंकी गति रोककर (कुम्भक) प्राणायामके परायण रहते हैं, एवं कितने ही नियमित आहार करके प्राणोंका प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं अर्थात् प्राणोंको अपने ही स्थानोंपर रोक देते हैं।

इस प्रकार चौबीसवें श्लोकसे लेकर तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतक जिन चौदह यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन यज्ञोंके द्वारा जिन्होंने अपने पापोंका नाश करके मुक्ति प्राप्त कर ली है, वे ही वास्तवमें यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

अन्वय—**अपरे, अपाने, प्राणम्, जुह्वति, तथा, प्राणे, अपानम्, (जुह्वति) अपरे, प्राणापानगती, रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥**

अपरे, नियताहाराः, प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति, एते, सर्वे, अपि, यज्ञक्षपितकल्मषाः, यज्ञविदः (सन्ति) ॥३०॥

पदव्याख्या—**अपरे**—दूसरे (कितने ही योगी लोग)।

अपाने प्राणम् जुह्वति—अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करते हैं।

प्राणका स्थान हृदय (ऊपर) तथा अपानका स्थान गुदा (नीचे) है*। श्वासको बाहर निकालते समय वायुकी गति ऊपरकी ओर तथा श्वासको भीतर ले जाते समय वायुकी गति नीचेकी ओर होती है। इसलिये श्वासको बाहर निकालना 'प्राण'का कार्य और श्वासको भीतर ले जाना 'अपान' का कार्य है।

यहाँ जिस प्राणायामरूप यज्ञका वर्णन है, उसे 'पूरक प्राणायाम' अथवा 'आभ्यन्तर कुम्भक' भी कहते हैं। इसमें बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा भीतर ले जाते हैं। वह वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिसे होती हुई स्वाभाविक ही अपानमें लीन हो जाती है। यही अपानवायुमें प्राणवायुका यज्ञभावसे हवन करना है।

प्राण केवल जीवनके लिये ही नहीं है, अपितु परमात्मप्राप्तिका एक साधन भी है। प्राणमें एक विलक्षण और निर्दोष शक्ति है। वे कोई उद्योग किये बिना स्वभावतः ही चलते रहते हैं।

परमात्म-प्राप्तिके उद्देश्यसे केवल कर्तव्य समझकर लोकहितार्थ अपानमें प्राणका हवन करनेसे यह यज्ञ हो जाता है।

तथा—वैसे ही (अन्य योगीलोग)—

प्राणे अपानम् (जुह्वति)—प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करते हैं।

यहाँ जिस प्राणायामरूप यज्ञका वर्णन है, उसे 'रेचक प्राणायाम' अथवा 'बाह्य कुम्भक' भी कहते हैं। इसमें भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा बाहर निकालते हैं। वह वायु स्वाभाविकरूपसे ही प्राणवायुको तथा उसके पीछे-पीछे अपानवायुको साथ लेकर बाहर निकलती है। यही प्राणवायुमें अपानवायुका यज्ञभावसे हवन करना है। इसे (परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे) केवल कर्तव्य समझकर करनेसे यह यज्ञ हो जाता है।

अपरे—दूसरे (कितने ही योगीलोग)।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः—प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायामके परायण होते हैं।

यहाँ जिस प्राणायामरूप यज्ञका वर्णन है, उसे 'कुम्भक' कहते हैं। इसमें प्राणवायु और अपानवायु—

* हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले। (योगचूडामण्युपनिषद् २३)

दोनोंकी गति रोक देते हैं। न तो श्वास बाहर जाता है और न श्वास भीतर ही आता है। इस प्रकार परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे निष्काम...वपूर्वक प्राणायामके परायण होनेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।* यह कितनी विलक्षण बात है कि संसारका उद्देश्य न रखकर केवल परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे लोकहितार्थ की जानेवाली प्रत्येक क्रिया कल्याण करनेवाली हो जाती है।

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति—अन्य (कितने ही) नियमित आहार करनेवाले प्राणोंमें हवन किया करते हैं। नियमित आहार-विहार करनेवाले साधक ही प्राणोंमें हवन कर सकते हैं। अधिक या बहुत कम भोजन करनेवाला अथवा बिल्कुल भोजन न करनेवाला यह प्राणायाम नहीं कर सकता।†

प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेका तात्पर्य है—प्राणका प्राणमें और अपानका अपानमें हवन करना अर्थात् प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना। न श्वास बाहर निकालना और न श्वास भीतर लेना। इसे 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' भी कहते हैं। इस प्राणायामसे स्वभावतः ही वृत्तियाँ शान्त होती हैं और पापोंका नाश हो जाता है। केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्राणायाम करनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और परमात्मप्राप्ति हो जाती है।

एते सर्वे अपि यज्ञक्षपितकल्मषाः यज्ञविदः (सन्ति)—ये सभी (साधक) यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश करनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतक जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उनका अनुष्ठान करनेवाले साधकोंके लिये यहाँ **'एते सर्वे अपि'** पद आये हैं। उन यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण यज्ञ केवल कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही हैं—ऐसा जाननेवाले ही **'यज्ञवित्'** अर्थात् यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं। कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माका अनुभव हो जाता है। जो लोग अविनाशी परमात्माका अनुभव करनेके लिये यज्ञ नहीं करते, अपितु इस लोक और परलोक-(स्वर्गादि-)के विनाशी भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही यज्ञ करते हैं, वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले नहीं हैं; कारण कि विनाशी पदार्थोंकी कामना ही बन्धनका कारण है—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)। अतः मनमें कामना-वासना रखकर परिश्रमपूर्वक बड़े-बड़े यज्ञ करनेपर भी जन्म-मरणका बन्धन बना रहता है—

> मिटी न मनकी बासना, नौ तन भये न नास।
> तुलसी केते पच मुये, दे दे तन को त्रास॥

विशेष बात

यज्ञ करते समय अग्निमें आहुति दी जाती है। आहुति दी जानेवाली वस्तुओंके रूप पहले भिन्न-भिन्न होते हैं; परन्तु अग्निमें आहुति देनेके बाद उनके रूप भिन्न-भिन्न नहीं रहते, अपितु सभी वस्तुएँ अग्निरूप हो जाती हैं। इसी प्रकार परमात्मप्राप्तिके लिये जिन साधनोंका यज्ञरूपसे वर्णन किया गया है, उनमें आहुति देनेका तात्पर्य यही है कि आहुति दी जानेवाली

---

* गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च। नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥

† नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(गीता ६। १६-१७)

वस्तुओंकी पृथक् सत्ता रहे ही नहीं, सब स्वाहा हो जायँ। जबतक उनकी पृथक् सत्ता बनी हुई है, तबतक वास्तवमें उनकी आहुति दी ही नहीं गयी अर्थात् यज्ञका अनुष्ठान हुआ ही नहीं।

इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकसे भगवान् कर्मोंके तत्त्व-(कर्ममें अकर्म-) का वर्णन कर रहे हैं। कर्मोंका तत्त्व है—कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधना। कर्मोंसे न बँधनेका ही एक साधन है—यज्ञ। जैसे अग्निमें डालनेपर सब वस्तुएँ स्वाहा हो जाती हैं, वैसे ही केवल लोकहितके लिये किये जानेवाले सब कर्म स्वाहा हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४। २३)।

निष्कामभावपूर्वक केवल लोकहितार्थ किये गये साधारण-से-साधारण कर्म भी परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं। परन्तु सकामभावपूर्वक किये गये बड़े-से-बड़े कर्मोंसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती; कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना ही बाँधनेवाली है। पदार्थ और क्रियारूप संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यमात्रमें पदार्थ पाने और कर्म करनेका राग रहता है कि मुझे कुछ-न-कुछ मिलता रहे और मैं कुछ-न-कुछ करता रहूँ। इसीको 'पानेकी कामना' तथा 'करनेका वेग' कहते हैं।

मनुष्यमें जो पानेकी कामना रहती है, वह वास्तवमें अपने अंशी परमात्माको ही पानेकी भूख है; परन्तु परमात्मासे विमुख और संसारके सम्मुख होनेके कारण मनुष्य इस भूखको सांसारिक पदार्थोंसे ही मिटाना चाहता है। सांसारिक पदार्थ विनाशी हैं और जीव अविनाशी है। अविनाशीकी भूख विनाशी पदार्थोंसे मिट ही कैसे सकती है? परन्तु जबतक संसारकी सम्मुखता रहती है, तबतक जीवकी उससे पानेकी कामना बनी रहती है। जबतक मनुष्यमें पानेकी कामना रहती है, तबतक उसमें करनेका वेग बना रहता है। इस प्रकार जबतक पानेकी कामना और करनेका वेग बना हुआ है अर्थात् पदार्थ और क्रियासे सम्बन्ध बना हुआ है, तबतक जन्म-मरण नहीं छूटता। इससे छूटनेका उपाय है—कुछ भी पानेकी कामना न रखकर केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। इसीको लोकसंग्रह, यज्ञार्थ कर्म, लोकहितार्थ आदि नामोंसे कहा गया है। यही कर्मयोग है।

केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे संसारसे सम्बन्ध छूट जाता और 'असङ्गता' आ जाती है। यदि केवल भगवान्के लिये कर्म किये जायँ, तो संसारसे सम्बन्ध छूटकर असङ्गता तो आ ही जाती है, इसके साथ एक और विलक्षण बात यह होती है कि भगवान्का 'प्रेम' प्राप्त हो जाता है।

दुःख क्यों हो ?

स्वयंके हृदयमें ही आनन्दकन्द परमात्माकी अत्यन्त निकटताका सतत अनुभव करनेवाले भक्तोंका हृदय हमेशा सद्भावनासे लबालब भरा रहता है।

ऐसे ज्ञानी पुरुष तो अपने निन्दकमें भी नारायणके दर्शन करते हैं और शत्रुमें भी अपने दयानिधिका सांनिध्य अनुभव करते हैं।

इसीलिये उनके हृदयमें किसीके प्रति तनिक भी ईर्ष्या या दुश्मनी नहीं होती।

किसीको थोड़ा-सा धन मिल जाय तो भी वह आनन्द और खुशीमें नाचने लगता है, फिर इन महापुरुषोंको तो साक्षात् लक्ष्मीनारायण ही मिल जाते हैं। भला इनको फिर दुःख क्यों हो?

बाबा नहीं, बड़े बाबाजी

(लेखक—श्रीब्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

एक लड़का था राइचरण। एक दिन वह स्कूलसे लौटा जा रहा था। गर्मीके दिन थे। देखा कि सड़कके किनारे एक बड़ी-सी गठरी लिये एक आदमी बैठा है, परेशान-सा नजर आता है। पूछनेपर उस व्यक्तिने कहा—'मैं बाजार सामान खरीदने आया था। बुखार हो गया है। अब इस गठरीको लेकर चला नहीं जाता।' सुनते ही राइचरण बोला—'चिन्ता मत करो। मैं गठरी उठाता हूँ, तुम धीरे-धीरे मेरे पीछे चलो।' आदमी सिकुड़ते हुए बोला—'नहीं, नहीं, इसे न छूइये बाबूजी! मैं नीच जात हूँ।' मगर राइचरण न माना। वह जबरन गठरी उठाकर उस आदमीको साथ लेकर उसके घर पहुँचा आया।

राइचरण बाबू वाकई होनहार युवक थे। उनका जन्म सन् १८५३-५४में यशोहर जिलेके महिषखोला गाँवमें घोष-परिवारमें हुआ था। उन दिनों सामाजिक कारणोंसे आदमी कई शादियाँ किया करता था। राइचरणके भी तीन विवाह हुए थे। अच्छा खाता-पीता घर था, मगर राइचरण जब पाँच वर्षके थे तभीसे उनपर विपदाएँ टूटने लगीं। सबसे पहले उनके पिताका देहान्त हुआ, फिर तीनों भाइयोंका, माँका, नवजात पुत्रका, द्वितीय पत्नीका। वे पच्चीस वर्षके हुए तबतक यह सिलसिला जारी रहा। राइचरणके कोमल मनमें वैराग्य-भावना जाग उठी।

संसारकी सुख-सुविधाओंके प्रति राइचरणके मनमें वैराग्य था, तो दूसरी ओर परोपकार और मानव-सेवामें उनका अटूट विश्वास था। गाँववालोंको जलके अभावमें कष्ट पाते देखा, तो उन्होंने दौड़-धूपकर एक पुष्करिणी तैयार करा दी। फिर गाँवके बच्चोंको शिक्षित करनेकी दृष्टिसे एक विद्यालय खुलवाया।

एक रात सपनेमें कालीका आदेश पाकर राइचरणने नौकरी भी छोड़ दी। घरबार छोड़कर भवानीपुर (कलकत्ता) जा पहुँचे। वहाँ कालीने आपको साक्षात् दर्शन दिये। उन्हींकी आज्ञासे राइचरणने सरयू-किनारे पहुँचकर शंकरारण्यपुरी महाराजसे दीक्षा ली। भगवान्‌के नाममें पहले ही बहुत आस्था थी, पुरी महाराजकी कृपासे वह और गहरी हो गयी। आपका नाम भी राइचरणकी जगह राधारमणचरणदास हो गया। आप पहले शाक्त (काली-उपासक) थे, अब गौड़ीय वैष्णव (चैतन्य-उपासक) बन गये।

पुरी महाशयने विदा दी, उनकी आज्ञासे राइचरण चल पड़े और काशी, गया, मथुरा, वृन्दावन, नवद्वीप होते हुए अन्तमें जगन्नाथपुरी पहुँचे। अब आपका प्रमुख काम था जगह-जगह हरिनामका प्रचार करना। आपके संगी-साथी-शिष्योंकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ रही थी। आप जहाँ भी जाते आपका संकीर्तन-दल साथमें होता। मृदंग-करताल साथमें होते।

'राधारमण'का दृढ़ विश्वास था कि हरिनाम सर्वशक्तिमान् है। बच्चो! उन्होंने हरिनामकी शक्तिसे मृतकोंको जीवित किया, वृक्षोंको नचाया, पत्थरोंको गलाया और शहरभरके कुत्तोंको न्योता देकर सभ्य मनुष्योंकी तरह लाइनमें बिठाकर भोजन कराया। उन्होंने बहुत बार लोगोंको दिखाया कि हरिनामकी शक्ति जादू-टोना-जैसी थोथी चीज नहीं। उस शक्तिका कुछ परिचय नीचेकी घटना देगी।

एक बार राधारमण दिग्नगर (बंगाल) गये। वहाँ एक वट-वृक्षको हिन्दू पूजते थे। कुछ दुष्ट मुसलमान उसके डाल-पात काट देते थे। उनसे कुछ कहा जाता

तो वे चिढ़कर कहते—'हर जगह तुम्हारे देवता हैं।' राधारमणके आगे जब इसकी चर्चा चली, तो वे स्वयं उस वृक्षको देखने गये। वृक्षकी कटी-फटी हालत देखकर उन्हें भी दुःख हुआ। तुरंत ही वे साथियों और स्थानीय लोगोंके साथ हरिनाम-कीर्तन करते हुए मुसलमान नेता हाराधनके घर गये और उसे साथ लेकर फिर वृक्षके निकट पहुँचे। वृक्षको घेरकर कीर्तन किया गया। थोड़ी देरमें सबने देखा कि वृक्षकी शाखाएँ हिल रही हैं और पानीकी बूँदे गिर रही हैं। अब तो वह पूरा विशालकाय वृक्ष जड़समेत उठने-गिरने लगा। भगवान्के नामकी इस अद्भुत शक्तिको देखकर हाराधन राधारमणके पैर पकड़कर रोने लगा और अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगने लगा। राधारमणने उसे सीनेसे लगाकर कहा—'हाराधन! यह कोई साधारण पेड़ नहीं, पहले जन्मका कोई महापुरुष है। आज वह हरिनाम सुनकर आनन्दमें नाच उठा है। कुछ लोगोंने सोचा कि पेड़पर पहलेसे कोई छिपा बैठा होगा, पर देखनेसे पता चला कि ऐसी कोई बात नहीं है। कहते हैं कि वह वृक्ष आज भी हिन्दू-मुसलमानोंद्वारा पूजा जाता है। और यह बात तो विज्ञान भी मानता है कि पेड़ोंमें जान होती है।

राधारमण कर्तापनेकी भावनासे और मान-प्रतिष्ठासे दूर रहते थे, मगर हर किसीको—जीवमात्रको—सम्मान देते थे। तुलसीदास जगत्को 'सीयराममय' मानते थे, राधारमण गुरुमय मानते थे। वे अपने शिष्योंको भी गुरुरूपमें देखते थे। इससे उनकी उदारताका पता चलता है। बच्चो, राधारमणकी 'गुरुमय विश्व' वाली बातपर थोड़ा विचार करें। लोग पूछते—'क्या चोर-बदमाश भी गुरु हैं। राधारमण कहते—'गुरु दो तरहके होते हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। अच्छे लोगोंसे तो हम सीख ही सकते हैं, वे हमारे अनुकूल गुरु हैं। मगर बुरे लोग भी हमें शिक्षा देते हैं। उनके काम परोक्षरूपसे हमें अच्छे रास्तेपर चलनेकी प्रेरणा देते हैं। सिपाही किसी चोरको हथकड़ी डाले ले जाते हैं। हम घृणासे देखकर हँस देते हैं। लेकिन नहीं, अनादरका पात्र वह भी नहीं। क्या उसका बुरा काम हमें सावधान नहीं करता—चोरी करोगे तो यही हाल होगा। ऐसे लोग हमारे प्रतिकूल गुरु हैं।'

राधारमण स्वयं गौड़ीय वैष्णव थे, पर उन्होंने कभी किसी मत-धर्म और सम्प्रदायको छोटा नहीं समझा। शाक्त-शैव-बाउल, पालरी-पैगम्बर हर किसीको आप गले लगाते थे, हर देवी-देवताको सिर झुकाते थे।

राधारमण तो सन् १९०६ में इस धराको छोड़ गये, मगर भारतमें विशेषकर बंगाल-उड़ीसामें हरिनाम-प्रेमकी जो धारा उन्होंने बहायी थी, वह आज भी उस अंचलमें दिखायी देती है। वे तनके बड़े थे। हजार लोगोंके बीच भी खड़े होते, तो उनका सुन्दर-सुडौल व्यक्तित्व दूरसे साफ नजर आता। वे मनके भी बड़े थे। विशाल हृदय, उदार दृष्टिकोण था। यही कारण था कि हमलोग उन्हें बाबा नहीं, बड़े बाबा कहने लगे थे।

कभी चैतन्यदेवकी लीला-स्थली नवद्वीप जाओ, तो वहाँ समाजवाड़ी राधारमण बाग अवश्य देखना। बड़े बाबाकी सुन्दर-सुडौल मूर्ति देखोगे, तो देखते ही रह जाओगे।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

साधक अगर 'ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये'—इन दो बातोंको छोड़ दे और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे, तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय ! जिसको मुक्ति कहते हैं, कल्याण कहते हैं, वह हो जाय ! रामायणमें आता है—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(७ । ४३ । ३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभु अपनी तरफसे कृपा करके जीवको मनुष्यशरीर देते हैं। कृपाका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य अपना कल्याण कर ले। मनुष्यका कल्याण हो जाय—इस भावसे भगवान् मनुष्यशरीर देते हैं। अतः भगवान्‌की तरफसे तो इसके उद्धारका संकल्प हो गया। परन्तु मनुष्य 'ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये'—इस बातको पकड़ लेता है और इसीसे बन्धनमें पड़ जाता है; और इसीको कामना कहते हैं।

गीताने जो कामना-त्यागकी बात कही है, उसका तात्पर्य है कि 'ऐसा हो जाय और ऐसा न हो जाय'—ये दोनों छोड़ दें। इस तरह कामनाका त्याग करनेसे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा और भगवान्‌की कृपासे, भगवान्‌के संकल्पसे इसका उद्धार हो ही जायगा—यह निश्चित बात है।

प्रभु स्वाभाविक बिना कारण कृपा करते हैं, किसी कारणसे नहीं—'**बिनु हेतु सनेही**'। अतः भगवान्‌का यह संकल्प है कि मनुष्य अपना उद्धार कर ले। भगवान्‌का संकल्प सत्य होता है, नित्य होता है और स्वतःसिद्ध होता है। इसलिये मनुष्यको अपने कल्याणके लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता। बस, केवल एक बात है कि मनुष्य अपनी आड़ नहीं लगाये अर्थात् 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—इसको मिटा दे। फिर इसका कल्याण स्वतः हो जायगा।

ऐसा हो जाय और ऐसा न हो जाय—इससे होता कुछ नहीं। कारण कि 'ऐसा हो जाय'—ऐसा चाहनेसे क्या ऐसा हो जाता है ? और 'ऐसा न हो जाय'—ऐसा चाहनेसे क्या ऐसा नहीं होता ? एक-एक भाई-बहन इसपर विचार करके देखें कि जैसा हम चाहें, वैसा हो जाय और जो नहीं चाहें, वह नहीं हो—यह बात होती नहीं। अभीतक किसीके भी मनकी बात पूरी नहीं हुई तो अब कैसे हो जायगी ? आपलोग अपना-अपना जीवन देख लें कि हमने जैसा चाहा, वैसा हुआ है क्या ? जो नहीं चाहा, वह नहीं हुआ है क्या ? आपकी उम्रभरका है ऐसा अनुभव ? अतः हमारे चाहनेसे क्या होता है ? प्रभुकी प्राप्तिमें बाधा लगनेके सिवाय कुछ नहीं होता। जिसको तत्त्व-ज्ञान, जीवन्मुक्ति, भगवत्प्रेम, भगवत्प्राप्ति, कल्याण, उद्धार कहते हैं, केवल उसमें बाधा लगती है, और कुछ नहीं होता।

कहते हैं 'बात तो ठीक है, पर मनमें ऐसी कामना हो जाती है, क्या करें ?' इसमें एक बात बताते हैं। जो हो जाता है, वह दोषी नहीं होता, प्रत्युत जो करते हैं, वह दोषी होता है। जैसे, वर्षा हो जाय, न हो जाय तो क्या हमें उलाहना मिलता है ? क्या इसमें हमारी कोई जिम्मेवारी होती है ? जो स्वतः होता है, उसकी हमारेपर कोई ज़िम्मेवारी नहीं होती, उसका

हमें कोई पाप-पुण्य नहीं लगता। अतः मनमें 'ऐसा हो और ऐसा न हो'—ऐसा आ भी जाय, तो उसकी उपेक्षा कर दें कि 'नहीं' हमें यह कामना नहीं करनी है, हमें यह बात बिल्कुल ही नहीं रखनी है।' इसपर अगर आप दृढ़तासे टिक जायँ, तो यह कामना मिट जायगी।

हमारे मनमें तो यही बात रहनी चाहिये कि 'जैसा भगवान् चाहें, वैसा होना चाहिये और जैसा भगवान् नहीं चाहें, वैसा नहीं होना चाहिये'—

मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अज्ञान।
तेरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्यान॥

अगर चाह हो भी जाय, तो प्रभुसे कह दें कि 'हे नाथ! मेरी चाही मत करना। नारदजीने चाहा कि मेरा विवाह हो जाय, तो क्या विवाह हो गया? उन्होंने भगवान्से भी माँग लिया, तो भगवान्ने कहा कि 'जैसा तुम्हारा परम हित होगा, वैसा करूँगा।'* नारदजीने अपने-आपको भगवान्को दे रखा था; अतः उनके माँगनेपर भी भगवान्ने नहीं दिया। इसलिये माँगकर अपनी इज्जत क्यों खोयें; क्योंकि प्रभु तो अपनी मरजीसे करेंगे! जब वे अच्छे-से-अच्छे भक्तका कहना भी नहीं करते, तब वे हमारा कहना कैसे करेंगे? तो फिर कहना ही क्यों? कुछ भी नहीं चाहेंगे तो हमारी इज्जत रह जायगी।

जब हनुमान्जी सीताजीका पता लगाकर, उनका सन्देश लेकर आये, तब भगवान्ने उनसे कहा कि 'मैं तुम्हें क्या दूँ? देनेके लिये मेरे पास कुछ है ही नहीं; अतः मैं तुम्हारा ऋणी हूँ'। इसलिये जो भगवान्से कुछ नहीं चाहता, भगवान् उसके ऋणी हो जाते हैं। जैसे, आपको यह मालूम हो जाय कि ये महात्मा, ये पण्डितजी कुछ नहीं चाहते, तो आपके मनमें भाव होगा कि इनको कुछ दे दूँ। ये हमसे कुछ ले लें—ऐसी आपकी स्वाभाविक एक रुचि होती है। ऐसे ही जो कुछ नहीं चाहता, उसका कल्याण हो जाय—ऐसी प्रभुके मनमें आती है।

एक सन्तने कहा था—यह हमारे काममें ली हुई, अनुभव की हुई बात है कि मनसे पूछे—तेरेको क्या चाहिये? मनसे उत्तर दे—कुछ नहीं। बोल, क्या चाहिये? कुछ नहीं—ऐसे बार-बार मनसे कहो, तो चाहना मिट जायगी। हमें कुछ चाहिये ही नहीं; क्योंकि सबके अन्न-जलकी व्यवस्था अपने-आप होती है। हम जी रहे हैं, तो जीनेकी सामग्री अपने-आप आयेगी। फिर चाहना क्यों करें? सुख मिले और दुःख न मिले—ऐसा सब चाहते हैं, पर आजतक एक भी प्राणी ऐसा नहीं हुआ, जिसको दुःख न मिला हो और सुख-ही-सुख मिला हो। इसलिये प्रभुकी मरजीमें अपनी मरजी मिला दें। प्रभु जो कर रहे हैं, उसमें हमारा हित भरा है। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही बन्धन है। यह न रहे तो फिर प्रभुका भजन ही होगा।

प्रभुकी मरजीमें अपनी मरजी मिला देना, अपनी कोई अलग चाह न रखना ही पूजा है। अगर अपने मनमें 'यह हो और यह न हो' ऐसा रहेगा तो पूजामें बाधा होगी। एक सन्त मिले थे। उन्होंने कहा कि 'हमारी तो सदा मनचाही होती है'। दुनियामें ऐसा कोई नहीं है, जिसकी सदा मनचाही होती हो। उनसे पूछा कि 'महाराज! आपकी सदा मनचाही कैसे होती है? वे बोले कि 'हम अपनी कोई चाहना रखने ही नहीं, हमने अपनी चाहना भगवान्की चाहनामें मिला

* जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥
(मानस १।१३२)

दी है। अब वे जो कुछ करें, उसमें हमारी भी यही चाहना है अर्थात् ऐसा हो गया, तो हम भी ऐसा ही चाहते हैं; अतः जो होता है, वह हमारी चाहनाके अनुसार ही होता है।'

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।
करै अन्यथा अस नहिं कोई॥
(मानस १। १२७। १)

इसलिये साधक अपनी कोई चाहना न रखे।

'राम-राम' कहनेसे तनावमुक्ति

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

मनुष्यमें भगवान्‌का निवास है। जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह ईश्वरांश ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस आत्मभावसे ही पूरी मानवतासे जुड़ा हुआ है। जब आप ईश्वरका कोई भी नाम उच्चारण करते हैं तो इसी आत्माको जाग्रत् करते हैं। अपने चारों ओर सत्य, शिव, आनन्द, आशा, उल्लासका वातावरण बनाते हैं।

जब आप किसी व्यक्तिका स्वागत 'राम-राम !' कहकर करते हैं, तो एक उच्च सत्तासे अपना नाता जोड़ते और इस रिश्तेसे दूसरे व्यक्तिमें भी ईश्वरतत्त्व जाग्रत् करते हैं। ईश्वर निर्विकार, निर्मल, निःशंक और पूर्ण है; शान्ति, समता, बन्धुत्व और प्रेमस्वरूप है। अतः 'राम-राम !' कहनेसे मानसिक भार हल्का होता है, तनाव, चिन्ता और परेशानी दूर होती है। भगवान्‌के प्रत्येक नाममें चिन्ता दूर करनेकी अद्भुत क्षमता है। दूसरा व्यक्ति भी उत्तरमें 'राम-राम !' उच्चारण करता है। दोनोंके मनमें अच्छाई, पवित्रता, शक्ति, साहस, संयमके भाव उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार हमारी शारीरिक बीमारियोंका प्रभाव भी शरीरपर पड़ता है, उसी प्रकार हमारे मन तथा भावोंका प्रभाव भी शरीरपर पड़ता है। इसीलिये महात्माओंने कई प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग दूर करनेके लिये 'राम-नाम' पर बहुत जोर देते थे।

'राम' हिन्दुओंका शक्तिकेन्द्र है। हमारे ऋषि-मुनि, शास्त्रों और कवियोंने जो पवित्रतम कल्पना की है, वह श्रीरामके व्यक्तित्वमें केन्द्रित है। 'राम !' कहकर आप सर्वोच्च शक्तिकेन्द्रसे आध्यात्मिक शक्ति खींचते हैं और अपने-आपको शक्तिशाली बनाते हैं। 'राम' क्या है? इसकी महिमा क्या है? इसके सम्बन्धमें तुलसीदासजी लिखते हैं—

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥२॥
(श्रीरामचरितमानस कि० २)

अर्थात्—'वे सुकृति (पुण्यात्मा पुरुष) धन्य हैं जो वेदरूपी समुद्रके मँथनेसे उत्पन्न हुए कलियुगके मलको सर्वथा नष्ट कर देनेवाले, अविनाशी भगवान् श्रीशम्भुके सुन्दर एवं श्रेष्ठ मुखरूपी चन्द्रमामें सदा शोभायमान, जन्ममरणरूपी रोगके औषध, सबको सुख देनेवाले और जानकीजीके जीवनस्वरूप श्रीरामनामरूपी अमृतका निरन्तर पान करते रहते हैं।'

'राम' नामका उच्चारण करते ही आपके मनमें पवित्र आध्यात्मिक शक्तिका प्रादुर्भाव होता है, स्वस्थ दिव्य वातावरण बनता है और मनमें ईश्वरत्व (अच्छाई, सात्त्विकता, समता, विवेक) जाग्रत् होता है। मन पवित्र विचारोंसे भर जाता है। ऐसा अनुभव होता है,

मानो जमा हुआ मानसिक मल, चिन्ता, दुविधा आदि विकार साफ हो गये हों और आन्तरिक क्षेत्रमें पवित्रता भर गयी हो।

कई बार ईश्वरके पवित्र नामोंके उच्चारणमें हम आलस्य कर जाते हैं, किंतु याद रखिये 'राम-राम !' कहनेका दुहरा पुण्य है। हम न केवल अपने अन्तः-करणको पवित्र करते हैं, वरन् दूसरेको भी पवित्र होनेका अच्छा अवसर देते हैं। न केवल अपने लिये, किंतु सभीके लिये इन शब्दोंकी विद्युत् कल्याणकारी है।

यदि क्रोध, घृणा, आवेश, द्वेष, स्वार्थ, प्रतिशोध और उत्तेजना आदिको भीतरसे निकालनेका अवसर न दिया जाय, तो व्यक्ति पागल या निराश ही हो जाय। प्रत्येक हिंसक मनोविकार सर्वनाश करनेमें समर्थ है। पर भगवान्‌का नाम मुँहसे निकलने या सुननेसे हिंसक वृत्ति दबकर प्रेम, दया, क्षमा, करुणाके भाव प्रकट हो जाते हैं। रामनाम उच्चारणसे तामसी प्रकृतिवाले व्यक्ति अपने स्वभावको मृदुल बना सकते हैं।

'राम-राम !' आपको एक दिव्य ईश्वरीय परिवारसे जोड़ता है। एक उच्च शक्ति-केन्द्रसे सम्बन्ध जुड़ा रहनेपर दिनभर आप अपनेको बलवान् महसूस करते हैं। यदि दिनभरमें आप दस-बीस बार भी 'राम, राम' उच्चारण करते हैं, तो बहुत-से लोगों और वातावरणमें आप आध्यात्मिकताकी गुप्त तरंगे फेंकते हैं; व्यक्ति और समाजको शुद्ध करते हैं। स्वयं पवित्र वातावरण उत्पन्न करते हैं और दूसरोंको भी सही दिशामें आगे बढ़ाते हैं।

'राम-राम !' के उच्चारणसे मानसिक जगत्‌का वातावरण शुद्ध, शान्त, विवेकपूर्ण बनता है। उचित-अनुचितका ज्ञान उभरता है। इससे हमारा मानसिक सन्तुलन ठीक हो जाता है। कठिन दीखनेवाली समस्याओंका हल निकल आता है; क्योंकि हम शान्त चित्तसे सोचते हैं। दैवी आनन्दकी अनुभूति हमें मूल चिन्तनमें सहायक होती है। हमारा विवेक भावनाओंको नियन्त्रित करता है। तुलसीने सत्य ही कहा है—

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

नामनिन्दासे नाक कट गयी

एक बार भक्त हरिदासजी सप्तग्रामके जमींदार हिरण्य मजमूदारके यहाँ हरिनामका माहात्म्य वर्णन करते हुए बोले—'भक्तिपूर्वक हरिनाम लेनेसे जीवके हृदयमें जो भक्ति-प्रेमका संचार होता है, वही हरिनाम लेनेका फल है।' इसी बातचीतके सिलसिलेमें जमींदारके गोपाल चक्रवर्ती नामक एक कर्मचारीने हरिनामकी निन्दा की और यह कहा कि—'ये सब भावुकताकी बातें हैं। यदि हरिनामसे ही मनुष्यकी नीचता मिटती हो तो मैं अपनी नाक कटवा डालूँ।' हरिदासजीने भी बड़ी दृढ़तासे उत्तर दिया कि 'भाई ! यदि हरिनाम-स्मरण और हरिनाम-जपसे मनुष्यको मुक्ति न मिले तो मैं भी अपनी नाक कटवा डालूँगा।' कहते हैं कि दो-तीन महीने बाद ही गोपाल चक्रवर्तीकी नाक कुष्ठरोगसे गलकर गिर पड़ी। हरिनाम-निन्दाका फल प्रत्यक्ष हो गया।

संत-महिमा

(एक महात्माका प्रसाद)

प्र०—महापुरुष या महात्मा किसे कहते हैं ?

उ०—जिनके अंदर दैवी सम्पत्ति और भगवत्प्रेम पूर्णरूपसे हो, जिनकी दृष्टि बिना ही दृश्यके स्थिर हो, जिनके प्राण बिना प्राणायामके स्थिर हों और जिनका मन बिना अवलम्बके स्थिर हो।

प्र०—महापुरुषकी पहचान कैसे होती है ?

उ०—महापुरुषकी पहचान और भगवान्की पहचान एक ही है। काम-क्रोधादियुक्त मनुष्य तो महापुरुष हो नहीं सकता। भगवान्की पूर्ण पहचान होनेसे महापुरुषकी पहचान होती है।

प्र०—उनके पहचाननेका सरल उपाय क्या है ?

उ०—मान, क्रोध और धनका त्याग ही मैंने मुख्य उपाय समझा है। इनका त्याग होनेसे कामादि विकार स्वतः नष्ट हो जायँगे। महापुरुषोंमें कोई विरक्त और कोई गृहस्थ होते हैं। गृहस्थ महापुरुष अन्यायोपार्जित धनके त्यागी होते हैं और विरक्त धनके सर्वथा त्यागी होते हैं। मान और क्रोधका त्याग दोनोंमें ही होता है।

प्र०—महापुरुषोंमें काम-क्रोध रहते हैं या नहीं ?

उ०—लेशमात्र भी काम-क्रोध नहीं रहते। उनमें काम-क्रोधादिका अत्यन्ताभाव होता है, पर दूसरे पुरुषों-को उनमें इनका आभास दीख सकता है। उनमें काम-क्रोधादि क्यों नहीं रहते ? इसीलिये कि वे सम्पूर्ण विश्वको भगवान्की लीला तथा भगवद्रूप देखते हैं, अथवा उसे आत्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। इन दोनों दृष्टियोंसे उनमें काम-क्रोधादि नहीं होते—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

प्र०—महापुरुषके समीप रहनेमात्रसे ही कल्याण हो जाता है या कुछ करना भी पड़ता है ?

उ०—जो महापुरुषोंके समीप रहेगा वह तो सभी साधन करेगा, उसमें क्या बाकी रहेगा ? क्योंकि उनके समीप रहनेवालेसे पाप-कर्म तो स्वतः ही छूट जायँगे और सत्सङ्गकी बातें सुननेसे उससे साधन भी कुछ-न कुछ बनेंगे ही। महापुरुषोंका सत्सङ्ग एक प्रकारसे भजन ही है। जिस वासना-(कामना-)से भक्त महा-पुरुषोंके समीप रहेगा, उसीकी उसे प्राप्ति होगी। यदि यह महापुरुषमें सचमुच प्रेम रखता है तो और कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल उनमें जो प्रेम है वही सब कुछ करा लेगा।

प्र०—महापुरुषमें अपनी शक्तिके अनुसार विश्वास होनेपर भी उनके सङ्गसे जैसा लाभ होना चाहिये वैसा क्यों नहीं होता ?

उ०—श्रद्धाकी कमीके कारण नहीं होता।

प्र०—श्रद्धा कैसे हो ?

उ०—निष्काम कर्म और भजन करनेसे महापुरुषों-में और परमात्मामें श्रद्धा होगी।

प्र०—भगवद्दर्शन केवल संतकृपासे हो सकते हैं या नहीं ?

उ०—यद्यपि भगवद्दर्शन कृपासाध्य है तथापि ऐसे महात्मा प्रायः देखनेमें नहीं आते। हाँ, शास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। इसलिये भगवद्दर्शन तथा भगवत्प्राप्तिके लिये चार उपाय ये भी हैं—(१) श्रद्धा, (२) सत्सङ्ग, (३) भजनक्रिया और (४) पाप तथा दुर्गुणोंका त्याग।

भगवान्में आसक्ति होनेसे विषयोंमें वैराग्य होता है। भगवान्में आसक्ति हुए बिना विषयोंमें वैराग्य नहीं हो सकता, चाहे कोई परमहंस या दिगम्बर ही क्यों न हो जाय। भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्में आसक्ति करनी चाहिये। उनमें आसक्ति होनेका मुख्य उपाय है उनका

चिन्तन। वह चिन्तन भी चार प्रकारसे होता है—(१) उनके नामका जप, (२) उनके स्वरूपका ध्यान, (३) उनके गुणोंका श्रवण और कथन अर्थात् सत्सङ्ग तथा (४) उनकी पूजा-सेवा। इन साधनोंका निरन्तर तीव्र अभ्यास होनेसे भगवान्में आसक्ति हो सकती है। (भगवान्में आसक्तिका कार्य है, उनमें दृढ़ अनुराग)।

प्र०—सच्चे संन्यासीकी पहचान क्या है ?

उ०—महात्माओंके भक्त ही महात्माकी पहचान कर सकते हैं। जो महात्माओंके भक्त नहीं, वे उन्हें कैसे पहचानेंगे ?

प्र०—साधुके कर्तव्य क्या हैं ?

उ०—(१) किसीकी बुराई-भलाई न करे;

(२) भलेसे भला और बुरेसे बुरा न कहे; अर्थात् दोनोंसे उदासीन रहे;

(३) अपनी निन्दा-स्तुतिमें हर्ष-शोकसे रहित रहे;

(४) किसी प्रकारका असच्चिन्तन न करे तथा अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे।

प्र०—महात्मा और दुरात्माके लक्षणोंमें क्या अन्तर है ?

उ०—जिनके मनमें और, वाणीमें और तथा कर्ममें कुछ और ही हो वह दुरात्मा हैं। इसके विपरीत जिसके मनमें, वाणीमें और कर्ममें एक ही बात हो, वह महात्मा है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

प्र०—महात्माके दर्शन करनेका क्या फल है ?

उ०—महात्माके दर्शनोंसे पाप टल जाते हैं; यह तो साधारण फल है; मुख्य फल तो यही है कि महात्माके दर्शन करके अन्तमें दर्शन करनेवाला महात्मा ही हो जाता है।

× × ×

१—सूर्यके उदयसे अन्धकारका नाश होता है, पदार्थोंका प्रकाश होता है और शीत जाता रहता है। इसी प्रकार महात्माके पास जानेसे अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश होता है, अच्छे-बुरेका ज्ञान होता है और संसार-भयरूपी शीत निवृत्त हो जाता है।

२—गङ्गा पापोंका नाश करती है, कल्पवृक्ष कामनाओंकी पूर्ति करता है और चन्द्रमासे उष्णताकी निवृत्ति होती है। किंतु महात्माके सङ्गसे ये तीनों एक साथ प्राप्त हो जाते हैं तथा ज्ञानकी प्राप्ति भी होती है, जिससे जीव कामना-रहित हो जाता है।

३—भगवान्के सच्चे प्रेमीको ही सत्पुरुष कहते हैं और सत्पुरुष ही सद्गुरु हो सकता है।

४—महात्माओंकी बाह्य क्रियाओंपर ध्यान न देकर उनकी अन्तरङ्ग धारणा देखनी चाहिये।

५—जो संत-महात्माओं और भक्तोंका भक्त होगा वह भगवान्का भक्त अवश्य होगा और जो भगवान्का भक्त होगा, वह संत-महात्माओं और भक्तोंका भक्त अवश्य होगा।

६—तुलसीदासजी कहते हैं—

निष्किंचन इन्द्रिय-दमन, रमारमण इकतार।
तुलसी ऐसे सन्तजन, विरले या संसार॥

७—संत-महात्माओंकी सेवासे यह फल होता है कि उनके शुद्ध परमाणु निकलकर सेवा करनेवालेके अन्तर चले जाते हैं और पापी मनुष्यकी सेवा करनेसे पापके परमाणु भीतर जाते हैं। इसीलिये पापीकी सेवा न कर महात्माओंकी सेवा करनी चाहिये।

८—एक बारकी बात है कि मैं एक बूढ़े विद्वान् पण्डितके घर भिक्षा करनेके लिये गया। भिक्षा पा लेनेके उपरान्त मैंने पण्डितजीसे कहा—'पण्डितजी ! आप वृद्ध हो गये, घरमें पुत्र-पौत्र सभी हैं, घरकी कोई चिन्ता नहीं। अब आप कहीं श्रीगङ्गातटपर एकान्त और शान्त स्थानमें निवास करें।' पण्डितजीने कहा—'गङ्गा कहती है कि जिसने परस्त्री, परद्रव्य और पर-निन्दासे अपनेको पृथक् रखा है, उसके लिये मैं प्रतीक्षा करती रहती हूँ, अपनेको पवित्र करनेके लिये।' (क्रमशः)

अमृत-बिन्दु

सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति आना तो कर्मोंका फल है, और उससे सुखी-दुःखी होना अपनी अज्ञता—मूर्खताका फल है। कर्मोंका फल मिटाना तो हाथकी बात नहीं है, पर मूर्खता मिटाना बिल्कुल हाथकी बात है।

जो सुखदायी परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करता है तथा दुःखदायी परिस्थितिमें दुःखी नहीं होता अर्थात् सुखकी इच्छा नहीं करता, वह संसार-बन्धनसे सुगमता-पूर्वक मुक्त हो जाता है।

लोगोंकी सांसारिक भोग और संग्रहमें ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है; और ज्यों-ज्यों अधर्म बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों समाजमें पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं।

ज्यों-ज्यों कामनाएँ नष्ट होती हैं, त्यों-त्यों साधुता आती है और ज्यों-ज्यों कामनाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों साधुता लुप्त होती है; कारण कि असाधुताका मूल हेतु कामना ही है।

विनाशीसे अपना सम्बन्ध माननेसे अन्तःकरण, कर्म और पदार्थ—तीनों ही मलिन हो जाते हैं, और विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जानेसे ये तीनों स्वतः पवित्र हो जाते हैं।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धको पहचानना ही भगवान्‌की शरण होना है। शरण होनेपर भक्त निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशङ्क हो जाता है।

भगवत्प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे होती है। उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न होनेमें मुख्य कारण सांसारिक भोगोंकी कामना ही है।

देवतालोग अपने उपासकोंको (उनकी उपासना साङ्गोपाङ्ग होनेपर) उनके हित-अहितका विचार किये बिना उनकी इच्छित वस्तुएँ दे देते हैं, परंतु परमपिता भगवान् अपने भक्तोंको अपनी इच्छासे वे ही वस्तुएँ देते हैं, जिसमें उनका परमहित हो।

जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही 'कर्म' हैं। संसार अभावरूप ही है। भावरूपसे केवल एक अक्रिय-तत्त्व परमात्मा ही है, जिसकी सत्तासे अभावरूप संसार भी सत्तावान् प्रतीत हो रहा है।

संत-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना; कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतने अपने प्राण प्रिय नहीं होते।

जबतक संसारसे संयोग बना रहता है, तबतक भोग होता है, योग नहीं। संसारके संयोगका मनसे सर्वथा वियोग होनेपर योग सिद्ध हो जाता है अर्थात् परमात्मासे अपने स्वतःसिद्ध नित्य-योगका अनुभव हो जाता है।

परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि करणोंसे नहीं।
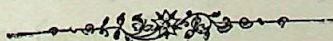
पढ़ो, समझो और करो

(१)

उदार दिल सेठ

व्यवसायके कारण बड़ौदा जाना पड़ा। एक पुराने मित्रसे भेंट हो गयी। उन्हींके यहाँ रुकनेकी व्यवस्था हुई। इनसे बिछुड़े बहुत दिन हो गये थे। इन्होंने आई० टी० आई० का कोर्स करनेके पश्चात् बड़ौदामें एक कारखानेमें नौकरी कर ली और वहाँ स्थायी हो गये थे। मैं अहमदाबादमें रहने लगा था। वर्षोंपूर्व जब मैंने यह सुना कि मेरे इन मित्रने नौकरी छोड़कर स्वयंकी फैक्ट्री प्रारम्भ कर दी है तब मुझे आश्चर्य हुआ। विश्वास नहीं हुआ। परन्तु आज सब प्रत्यक्ष देखकर मुझे उनकी आर्थिक स्थितिके लिये सन्तोष हो रहा है।

उनकी इस स्थितिका रहस्य उनके कारखाने जानेपर मालूम पड़ा। उनके कार्यालयमें प्रवेश करते ही सामने दीवालपर एक प्रभावशाली व्यक्तिकी छवि देखी। मैंने उनके पिताजीको देखा था। उनकी यह छवि नहीं थी। फिर यह किसकी छवि है? मेरी मानसिक उलझनको देखकर मेरे मित्रने बताया—'ये ही वे महानुभाव हैं—ये ही वे सज्जन हैं, जिनके कारखानेमें बड़ौदा आनेपर मुझे नौकरी मिली थी। वेतन अच्छा तथा अन्य अनेक सुविधाएँ भी। मैं मन लगाकर काम करने लगा—पूरी वफादारीसे ओवरटाइमकी अपेक्षा रखे बिना। इन सेठ साहबकी मेरे ऊपर अपार कृपा थी।

परन्तु एक दिन मैंने जैसे ही कारखानेमें प्रवेश किया कि तुरन्त सेठने मुझे अपने कार्यालयमें बुलाया और अति गम्भीरताभरे स्वरमें बोले—'तुम्हें आजसे नौकरीसे छोड़ा जाता है।'

ये शब्द सुनते ही मानो मुझपर बिजली गिर पड़ी। मेरी आँखोंके समक्ष अंधकार छा गया। यह मैं क्या सुन रहा हूँ!

मैंने कातर तथा प्रार्थना भरे स्वरमें कहा—'सेठ साहब! मेरा कोई दोष नहीं है। मैंने अपने काममें पूरा परिश्रम भी किया है। आप ऐसे एकाएक छोड़ देंगे तो मैं कहाँ जाऊँगा?'

सेठ बोले—'तुम्हें अब नौकरी करनेकी आवश्यकता नहीं। तुम्हारे लिये यहाँके औद्योगिक क्षेत्रमें एक जगह खरीदी है, उसका यह दस्तावेज है। लो सँभालो। उस जगहमें आवश्यक मशीनें लगानेकी व्यवस्था भी हो गयी है। तुम अपना अच्छा मुहूर्त्त देखकर प्रारम्भ करो। जो पुर्जे तुम यहाँ बनाते थे वही अपने कारखानेमें बनाओ और हमें बिक्री करते रहो। तुम्हारे-जैसे परिश्रमी और कुशल कारीगरको नौकरी नहीं करनी चाहिये! 'विश यू आल दी बेस्ट।'

इन सज्जनने मुझे पुनः एक झटका दिया। ऐसा झटका कि जिससे मेरी आँखोंमें हर्षाश्रु आ गये। मुझे आश्चर्य हुआ कि कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। सेठके उपकारके बदलेमें दो शब्द कहनेकी स्थितिमें मैं उस समय नहीं था, परन्तु आँखें तो आभार प्रदर्शित कर ही रही थीं।

सेठ साहबके करकमलोंद्वारा ही मेरे कारखानेका उद्‌घाटन हुआ और फैक्ट्री अच्छी तरह चलने लगी। उत्पादन सब सेठ खरीद लेते थे। सेठ साहबका लगाया हुआ व्याजमुक्त रुपया भी धीरे-धीरे भर दिया गया! अब यह कारखाना घरका ही हो गया है।

पलभरमें मित्रकी आँखोंसे निकलते मोतियोंको मैं देख रहा था जो कुछ देरसे छबिवाले महापुरुषकी इस आकृतिको देख रहा था; देखता ही रहा। मित्र पुनः बोले—'यह छबि केवल मेरे कारखानेमें ही नहीं, परन्तु यहाँके बहुतसे कारखानोंमें देखनेको मिलेगी! सेठ साहबको मालूम पड़ जाय कि यह कारीगर परिश्रमी

और प्रामाणिक है, इसलिये बस ! उसे नौकरीसे अलग करके जो आइटम वह बनाता है उसीका कारखाना उसे खुलवा देते हैं । हमारे इन सेठ साहबने यहाँके बहुतसे छोटे-बड़े उद्योगपतियोंका सृजन किया है ।

मित्रके मुखसे महामानवकी गाथा एकाग्रचित्तसे सुनता ही रहा । घड़ीभरके लिये तो मुझे लगा कि मैं फरिश्तोंकी किसी नगरीमें आ गया हूँ ।

उद्योग माल-सामानका निर्माण कर सकते हैं, उसी प्रकार कारीगरोंमेंसे उद्योगपतियोंका निर्माण भी कर सकता है । इसका ज्वलंत उदाहरण अपने सामनेकी इस छबिमें प्रत्यक्ष देखकर हमारा मस्तक झुक गया ।

—'अखंड आनन्द'

(२)

प्रेरणाका प्याऊ

सन् १९६८ की बात है । रातमें अचानक तीन पुत्रियोंका पिता हृदयगति रुक जानेसे स्वर्गीय हो गया ! वह डायबिटीज (मधुमेह) तथा अन्य रोगोंका गत ४ वर्षोंसे शिकार था । ऐसी स्थितिमें आर्थिक परिस्थिति दिन-पर-दिन कमजोर पड़ती गयी । परन्तु पत्नीकी व्यावहारिक बुद्धिसे संसारकी गाड़ी चलती रही ।

तीन पुत्रियोंमें एक पुत्री तो विवाह-योग्य हो चुकी थी। विधवा पत्नीके लिये चारों ओर अंधकार था । राय देनेवाले तो बहुत थे, परन्तु सहायता देनेवाला कोई नहीं था । वह बहन बहुत ही साहसवाली थी । सुना तो सबका, परन्तु किया अपने मनका ही ।

छोटी-सी तेलकी दुकान थी । पतिकी मृत्युके एक महीने पश्चात् लोकलाज छोड़कर उसने दुकान सँभाल ली । सचाई, सद्व्यवहार तथा प्रामाणिकतासे कार्य आरम्भ किया । देखते-देखते दुकान जम गयी । सहायताके लिये देशसे अपने भाईके पुत्रको बुला लिया । धीरे-धीरे लक्ष्मीकी कृपा हो गयी । पुत्रियोंके विवाह अच्छी-अच्छी जगह कर दिया । जीवनको धर्मपरायण कर लिया । उसके-जैसा किसीपर दुःखद प्रसङ्ग आता तो सहायता करनेमें सबसे आगे रहती । वह सोचती कि—'कौन जानता है, किसके पुण्यसे यह लक्ष्मी मुझे मिली है । मेरा पहला कर्तव्य है कि अपने-जैसी दुःखित बहनोंके काममें आऊँ ।'

अभी कुछ वर्ष पूर्व एक दूसरी बहिन विधवा हो गयी । बहुत शोचनीय स्थिति थी उसकी प्रारम्भमें । वह अपनी धनी बहनके समीप अहमदाबाद गयी, परन्तु धनता और निर्धनताका युगों-युगोंसे वैर है । वहाँ अच्छा नहीं लगा तो लौटकर कानपुर आ गयी । वहाँ इस तीन पुत्रियोंकी माँने उसे साहस दिलाया । सब प्रकार सहायता की और कहा—तुम्हारी अपेक्षा मेरी स्थिति तो बहुत खराब थी, तुम्हारे तो एक भी सन्तान नहीं है । उस बहनको इनकी सलाह अच्छी लगी । छोटा-मोटा कार्य करने लगी । अब श्रमकर ५००—६०० रुपये मासिक कमा लेती है । सबको एक ही बात कहा करती है कि मुझको तो उन बहनने प्रेरणा दी । मैंने साहस खोया होता तो समाज मुझे ठुकरा देता और मैं दर-दरकी ठोकरें खाती-फिरती । कानपुरमें यह तीन पुत्रियोंकी माता प्रेरणाका प्याऊ-जैसी हो गयी है । कोई भी दुःखित बहन उसकी ओर आशा लेकर जाय तो मात्र आश्वासन ही नहीं, शक्ति और सामर्थ्यानुसार तन-मन-धनसे सहायता भी करती है । यह देखकर विचार आता है कि संसारमें साहसवान् और पुरुषार्थी ही विजयश्री पाते हैं । अन्य तो अकालमें दुःखके महासागरमें डूब जाते हैं ।

—जेठालाल कानजी शाह

मनन करनेयोग्य

पार्वतीकी दया

(१) महाभागा हिमाचलनन्दिनी पार्वतीने भगवान् शंकरको पतिरूपसे प्राप्त करनेके लिये घोर तप किया। श्रीशंकरजीने प्रसन्न होकर दर्शन दिये। पार्वतीने उन्हें वरण कर लिया। इसके बाद शंकरजी अन्तर्धान हो गये। पार्वतीजी आश्रमके बाहर एक शिलापर बैठी थीं। इतनेमें उन्हें किसी आर्त बालकके रोनेकी आवाज सुनायी दी। बालक चिल्ला रहा था—'हाय-हाय ! मैं बचा हूँ, मुझे ग्राहने पकड़ लिया है। यह अभी मुझे चबा जायगा। अपने माता-पिताका मैं ही एकमात्र पुत्र हूँ। कोई दौड़ो, मुझे बचाओ, हाय ! मैं मरा !'

बालकका आर्तनाद सुनकर पार्वतीजी दौड़ीं। देखा, एक बड़े सुन्दर बालकको सरोवरमें ग्राह पकड़े हुए है। वह पार्वतीको देखते ही जल्दीसे चलकर बालकको सरोवरके बीचमें ले गया। बालक बड़ा तेजस्वी था, पर ग्राहके द्वारा पकड़े जानेसे करुण-क्रन्दन कर रहा था। बालकका दुःख देखकर पार्वतीजीका हृदय द्रवित हो गया। वे बोलीं—'ग्राहराज ! बालक बड़ा दीन है, इसे तुरंत छोड़ दो।' ग्राह बोला—'देवी ! दिनके छठे भागमें जो मेरे पास आवेगा, वही मेरा आहार होगा। यह बालक इसी कालमें यहाँ आया है, अतएव ब्रह्माने इसे मेरे आहाररूपमें ही भेजा है, इसे मैं नहीं छोड़ सकता।' देवीने कहा—'ग्राहराज ! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। मैंने हिमाचलकी चोटीपर रहकर बड़ा तप किया है, उसीके बलसे तुम इसे छोड़ दो।' ग्राहने कहा—'तुमने जो उत्तम तप किया है, वह मुझे अर्पण कर दो तो मैं इसे छोड़ दूँ।' पार्वतीने कहा—ग्राहराज ! इस तपकी बात ही क्या है, मैंने जन्मभरमें जो कुछ भी पुण्य-संचय किया है, वह सब तुम्हें अर्पण करती हूँ, तुम इस बालकको छोड़ दो। पार्वतीके इतना कहते ही ग्राहका शरीर तपके तेजसे चमक उठा, उसके शरीरकी आकृति मध्याह्नके सूर्यके सदृश तेजोमय हो गयी। उसने कहा—'देवी ! तुमने यह क्या किया ? जरा विचार तो करो, कितना कष्ट सहकर तुमने तप किया था और किस महान् उद्देश्यसे किया था। ऐसे तपका त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। अच्छा, तुम्हारी ब्राह्मण-भक्ति और दीन-सेवासे मैं बड़ा सन्तुष्ट हूँ। तुम्हें वरदान देता हूँ—तुम अपनी तपस्याको भी वापस लो और इस बालकको भी !' इसपर महाव्रता पार्वतीने कहा—'ग्राहराज ! प्राण देकर भी इस दीन ब्राह्मण-बालकको बचाना मेरा कर्तव्य था। तप तो फिर भी हो जायगा, पर यह बालक फिर कहाँसे आता ? मैंने सब कुछ सोचकर ही बालकको बचाया है और तुम्हें तप दिया है। अब इस दी हुई वस्तुको मैं वापस नहीं ले सकती। बस, तुम इस बालकको छोड़ दो।' इस बातको सुनकर ग्राह बालकको छोड़ अन्तर्धान हो गया। इधर पार्वतीने अपना तप चला गया, समझकर फिरसे तप करनेका विचार किया। तब शंकरजीने प्रकट होकर कहा—'देवी ! तुम्हें फिरसे तप नहीं करना पड़ेगा। तुमने यह तप मुझको ही दिया है। बालक मैं था और ग्राह भी मैं ही था। तुम्हारी दया और त्यागकी महिमा देखनेके लिये ही मैंने यह लीला की। देखो—दानके फलस्वरूप तुम्हारी यह तपस्या अब हजार गुनी होकर अक्षय हो गयी है।

वैष्णवकी नम्रता

(२) एक वैष्णव वृन्दावन जा रहा था। रास्तेमें एक जगह सन्ध्या हो गयी। उसने गाँवमें ठहरना चाहा, पर वह सिवा वैष्णवके और किसीके घर ठहरना नहीं चाहता था। उसे पता लगा—बगलके गाँवमें सभी वैष्णव रहते हैं। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने गाँवमें जाकर एक गृहस्थसे पूछा—'भाई ! मैं वैष्णव हूँ। सुना है, इस गाँवमें सभी वैष्णव हैं। मैं रातभर ठहरना चाहता हूँ।' गृहस्थने कहा—'महाराज ! मैं तो नराधम हूँ, मेरे सिवा इस गाँवमें और सभी वैष्णव हैं। हाँ, आप कृपा करके मुझे आतिथ्य करनेका सुअवसर दें तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा।' उसने सोचा, मुझे तो वैष्णवके घर ठहरना है; इसलिये वह आगे बढ़ गया। दूसरे दरवाजेपर जाकर पूछा, तो उसने भी अपने यहाँ ठहरनेके लिये तो बहुत नम्रताके साथ प्रार्थना की पर कहा यही कि 'महाराज ! मैं तो अत्यन्त नीच हूँ। मुझे छोड़कर यहाँ अन्य सभी वैष्णव हैं।' वह गाँवभरमें भटका; परंतु किसीने भी अपनेको वैष्णव नहीं बताया वरं सभीने नम्रतापूर्वक अपनेको अत्यन्त दीन-हीन बतलाया।

गाँवभरकी ऐसी विनय देखकर उसकी भ्रान्ति दूर हुई। उसने समझा कि 'वैष्णवताका अभिमान करनेसे ही कोई वैष्णव नहीं होता। वैष्णव तो वही है जो भगवान् विष्णुकी भाँति अत्यन्त विनम्र है। उसकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी और उसने अपनेको सबसे नीचा समझकर एक वैष्णवके घरमें निवास किया।

संगीत और साहित्यका सदुपयोग

मानव-जीवनका प्रधान उद्देश्य है भगवत्साक्षात्कार, भगवत्प्राप्ति। इसीमें जीवनकी सार्थकता है; अतएव जगत्‌की प्रत्येक वस्तु भी तभी सार्थक होती है, जब उसका प्रयोग भगवान्‌के लिये हो। संगीत और साहित्य—ये दोनों ही बड़े महत्त्वकी वस्तुएँ हैं। इनमें मनुष्यके चित्तको खींचकर उसे चाहे जिस ओर लगा देनेकी शक्ति है। संगीत और साहित्यका ही यह प्रभाव था कि एक दिन इस देशकी गति सर्वथा भगवदभिमुखी थी। भारतमें सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य-आश्रमकी संयममयी शिक्षा भी इसी उद्देश्यसे होती थी कि मानव भगवत्-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त कर ले—**'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** (कठोपनिषद् १।२।१५, गीता ८।११)। पर आज साहित्य और संगीतका अन्यथा प्रभाव पड़ रहा है। यह उन्हींका प्रभाव है कि भारतीय मानव भगवद्विमुख होकर भोगोंकी ओर दौड़ रहा है। फलतः इसमें साहित्य या संगीतकी सार्थकता नहीं होती है। यह उसका दुरुपयोग भी है। जो साहित्य या संगीत भगवत्प्रीत्यर्थ प्रस्तुत होता है, जो मनुष्यकी अन्तरकी सुप्त-पवित्र, सात्त्विक वासनाओंको जगाकर उसे भगवदभिमुखी बना देता है, वही सत्साहित्य है तथा सत्संगीत है और उसीकी सार्थकता है। उसीसे मानवकल्याण होता है। इसके विपरीत जिस साहित्य और संगीतसे भोग-वासना बढ़ती है, जो अंदरकी असद्‌वृत्तियोंको उभाड़कर मानवको भगवान्‌की ओरसे हटा देता है और भोगोंकी अदम्य लालसासे व्याकुल कर देता है वह असत्साहित्य है और उससे मानवजगत्‌का सर्वतोमुखी पतन होता है। आज यह चिन्तनीय स्थिति है।

आज-कल कलाके नामपर ऐसे उच्छृङ्खलता बढ़ानेवाले साहित्य और संगीतका बड़े जोरोंमें निर्माण हो रहा है और पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक-पुस्तिकाओं, स्कूल-कालेजों और नाटक-सिनेमाओंके द्वारा इनका बड़े चाव और उत्साहसे प्रचार भी किया जा रहा है। ऐसे कलाकारोंका कहना है कि 'कला ही साहित्य और संगीतका प्राण है। जिसमें कला नहीं वह साहित्य नहीं और संगीत नहीं। किस साहित्य या संगीतका समाजके जीवनपर क्या परिणाम होगा, वह उससे भोगोन्मुख बनेगा या भगवदभिमुख—इस विचारसे कोई मतलब नहीं। देखना तो यह है कि संगीत-साहित्यमें कला है या नहीं। वह अपने कलासौन्दर्यसे जनसामान्यके चित्तको आकर्षित करता है या नहीं, तत्काल उनके मन, इन्द्रियोंको प्रफुल्लित करता है या नहीं, चाहे वह भला कहा जाय या बुरा; उसकी भलाई-बुराईका मापदण्ड 'कला' है न कि समाजपर होनेवाला परिणाम।' यह है आजकी कला-प्रवृत्ति!

ऐसे आकर्षक साहित्य-संगीतके प्रचारसे जो, 'ललित कला' की नकाब पहनकर समाजमें—खास करके नववयस्क और अपरिणतमति युवक-युवतियोंसे विशेष आदर पा रहा है—समाजका कितना अकल्याण हो रहा है, वह किस तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है, इसका विचार करते ही हृदय काँप उठता है। ऐसे

साहित्यमें अनीति या बुराईको बड़ी चतुरता और शब्द-छटाके साथ अत्यन्त चित्ताकर्षक रूपमें और त्यागको धर्म तथा भगवद्भावको नितान्त हेयरूपमें अङ्कित किया जाता है, जिससे युवक-युवतियाँ बड़े आग्रहके साथ उसे पढ़ते हैं। परिणामस्वरूप उनमें भोग-कामना बढ़ जाती है और वे कुत्सित भोग-वासनाकी तृप्तिके लिये औपन्यासिक स्वप्नराज्यमें विचरण करते हुए कलुषितचित्त होकर और संयम-नियमके सारे बन्धनोंको तोड़कर उच्छृङ्खल अनीतिको अपना लेते हैं। यह है समाजपर पड़नेवाला साहित्यका अकल्याणकारी प्रभाव।

यह सब इन्द्रियतृप्तिके लिये उन्मत्त बना देनेवाले असत्-साहित्यका ही दुष्परिणाम है। भगवान्ने जिन सज्जनोंको साहित्यनिर्माणकी शक्ति दी है, उनपर एक बहुत बड़ा दायित्व है। उन्हें अपनी शक्तिका दुरुपयोग-कर साहित्यको अनर्थोत्पादक कदापि नहीं बनाना चाहिये। परन्तु कठिनता तो यह आ गयी है कि इस प्रकारके विचारोंका मनन करते-करते और इसी प्रकारके पाश्चात्य साहित्यको पढ़ते-पढ़ते ऐसे असत्-साहित्यमें और उसके द्वारा होनेवाले परिणाममें ही लोगोंकी 'सत्'-बुद्धि हो गयी है। और इसलिये वे उसे जन-कल्याणकारी समझकर विशेष लगनके साथ, कलापूर्ण चित्ताकर्षक रूपसे उसका निर्माण करने लगे हैं। इसी विपरीत बुद्धिके कारण नवीन विकासोन्मुख प्रतिभाशाली लेखक भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं।

इसी प्रकार आजका संगीतज्ञ भी शृङ्गार-भोगकी भावनासे ही संगीत-स्वरकी लहरियोंमें स्वयंको खोनेकी चेष्टा कर रहा है। उसे यह नहीं मालूम कि यह समय और उसकी प्रतिभाका दुरुपयोगमात्र है। असत्में यह श्रद्धा और रुचि बड़ी ही भयावह है। पता नहीं, इसका और आगे अभी क्या परिणाम होगा।

परन्तु जो इस बातको समझते हैं कि भगवान्के कथनानुसार विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर जो सुख होता है वह पहले अमृत-सा प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषका-सा काम करता है (गीता १८। ४८) उन्हें चाहिये कि वे इस विनाशकारी बाढ़को रोकनेके लिये सत्-साहित्यका निर्माण और प्रसार करनेकी चेष्टा करें। आपातरमणीय असत्-साहित्यकी ओर आकर्षित लोगोंको यह समझा दें कि साहित्यमें कलाका स्थान निःसन्देह महत्त्वपूर्ण है, परन्तु कलाका उद्देश्य होना चाहिये समाजको श्रेय-साधनपर सुप्रतिष्ठित करनेके लिये; नहीं तो कोरी कला समाजके लिये काल बन जायगी। भारतीय परम्परामें सूर, तुलसी, नरसी, मीरा, तुकाराम तथा अन्य ऐसे कई महानुभाव हुए, जिन्होंने संगीत और साहित्यके माध्यमसे भगवत्-पद प्राप्त किया।

वर्तमान समयमें, जहाँ यह बीमारी बढ़ चुकी है और बड़े-बड़े सम्मान्य विद्वान् तथा आदरणीय लोकनायकगण भी भोगोन्मुखी शिक्षा और साहित्य-प्रचारपर जोर दे रहे हैं, जहाँ समाजका आदर्श 'भगवान्के लिये त्याग' न रहकर केवल जागतिक ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये 'भोग'—हो चला है, और जहाँ जनताको शिक्षित बनानेके लिये प्रचुर धन लगाकर भोगोन्मुखी स्कूल-कालेजोंका निर्माण जोरोंसे हो रहा है, वहाँ लोगोंकी मनोवृत्तिको इस ओरसे मोड़कर भगवान्की ओर लगाना अवश्य ही बहुत कठिन है; तथापि भगवान्की कृपाके बलपर विश्वासी पुरुषोंको यथाशक्ति प्रयत्न तो करना ही चाहिये। लगन सच्ची और भगवत्कृपापर सच्चा विश्वास होनेपर ऐसा कौन-सा कार्य है जो न हो सके।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये निवेदन और नियम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी विश्वशान्ति और विश्व-मङ्गलके लिये भगवन्नामके सभी प्रेमियोंसे उपर्युक्त षोडशाक्षर नाम-महामन्त्रके इक्कीस करोड़ जप करनेकी हमारी विनीत प्रार्थना है। इस मन्त्रका जप सभी श्रेणियोंके, सभी जातियों तथा सभी अवस्थाओंके नर-नारी, वृद्ध, युवा तथा बालक सोत्साह कर सकते हैं।

१-जपका समय—पूर्ववत् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा, गुरुवार, सं० २०४१, दिनाङ्क ८ नवम्बर सन् १९८४ ई० से प्रारम्भ होकर चैत्र शुक्ल पूर्णिमा, शुक्रवार, सं० २०४२, दिनाङ्क ५ अप्रैल १९८५ ई० तक रहेगा। किंतु बीचमें भी किसी तिथिसे जप करना आरम्भ किया जा सकता है। हाँ, उसकी पूर्णता चैत्र शुक्ल पूर्णिमा सं० २०४२ को हो जानी चाहिये।

२-एक व्यक्तिको प्रतिदिन ऊपर निर्दिष्ट मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य ही करना चाहिये; अधिक चाहे जितना भी किया जा सकता है। जप नियमित हो तो अत्युत्तम है।

३-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे रखी जा सकती है। (तुलसीकी माला उत्तम होगी।)

४-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय और आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए भी इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

५-अस्वस्थावस्था या अन्य किसी कारणवश यदि जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये अथवा बादमें उसकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

६-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है। स्त्रियाँ अशुद्धावस्था-(रजोदर्शनके चार दिनों-)में भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। उस समयका जप मानस (स्मरणात्मक) हो तो उत्तम होगा।

७-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरुमन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं।

८-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें कोई—'*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥*' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर एक सौ (१००) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर हमें सूचित करें।

९-सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल जपकी संख्याकी सूचना ही भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि नहीं। हाँ, सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता आदि स्पष्ट लिखकर अवश्य भेजना चाहिये।

१०-प्रथम सूचना तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या उल्लिखित हो।

११-भगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके और सबके परम श्रेयकी विशुद्ध भावनासे किया-कराया जाता है। जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सार्वजनिक अनुष्ठान परस्परकी उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं। उनका प्रकाशन प्रोत्साहनके लिये होता है।

प्रार्थी—

संयोजक—नाम-जप-विभाग, 'कल्याण' पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०-१३

श्रीहरिः

कल्याणके ग्राहक महानुभावोंसे आवश्यक नम्र निवेदन

कल्याणका वार्षिक-मूल्य रु० २४.०० (चौबीस रुपये) है। आगामी वर्ष (जनवरी १९८५) के लिये ग्राहक बननेके उद्देश्यसे जो सज्जन चौबीस रुपये मनीआर्डर-द्वारा अग्रिम भेज देंगे, उन्हें विशेषाङ्क प्रकाशित होनेपर रजिस्ट्रीद्वारा भेज दिया जायगा। ऐसा न करनेपर उन्हें विशेषाङ्क वी० पी० पी० द्वारा भेजा जायगा तो उन्हें ३.०० अधिक अर्थात् कुल रु० २७.०० (सत्ताईस रुपये) डाकघरके माध्यमसे तदर्थ देने होंगे। वी० पी०पी० से विशेषाङ्क भेजनेकी स्थितिमें वी० पी०पी० का डाक-शुल्क रजिस्ट्रीसे लगभग दोगुना—६ रु० ६५ पै० लगता है तथा वी० पी०पी० वापस लौट आनेकी दशामें कार्यालयको इस डाकखर्चकी व्यर्थ हानि सहन करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त वी० पी० पी० से लौटे हुए अङ्कोंके आवरण-पृष्ठ तथा जिल्द आदि भी प्रायः खराब हो जानेसे उन्हें सुधारनेका कार्य भी बढ़ जाता है। अतः कल्याणके सभी ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र निवेदन है कि इस अनावश्यक असुविधा, खर्च और अनपेक्षित स्थितिसे स्वयं बचने और अपने प्रिय पत्र—'कल्याण'को भी बचानेके लिये यह आवश्यक है कि वे 'कल्याण'के निमित्त अपनी शुल्क-राशि मनीआर्डर-द्वारा ही अग्रिम भेजनेकी कृपा करें और यथासम्भव वी० पी० पी० द्वारा प्रेषणका अवसर ही न दें। यह तभी सम्भव है जब आप वी० पी० पी० की प्रतीक्षामें न रहकर निर्धारित शुल्क मनीआर्डरद्वारा भेजनेके लिये सचेष्ट एवं तत्पर होकर हमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करेंगे।

आगामी विशेषाङ्क—*'मत्स्यपुराणाङ्क'*-(उत्तरार्द्ध-)का मुद्रणकार्य द्रुतगतिसे हो रहा है और आशा है कि वह भगवत्कृपासे समयसे निर्विघ्न सम्पन्न होकर सम्भवतः जनवरी ८५ तक प्रकाशित हो जायगा। अतः सभी इच्छुक सज्जनों, ग्राहक-अनुग्राहकों और समस्त प्रेमी पाठकोंको चाहिये कि वे

अपनी शुल्कराशि कार्यालयमें मनीआर्डर-द्वारा शीघ्रातिशीघ्र प्रेषित कर अपनी प्रति सुरक्षित करा लें।

ग्राहक सज्जन मनीआर्डर-कूपनों तथा कार्यालयको लिखे गये अपने पत्रोंपर हमारे बार-बार अनुरोध करनेपर भी अपना नाम तथा पूरा पता प्रायः अस्पष्ट लिखते हैं। बहुत-से व्यक्ति तो अपना पता अपूर्ण तथा नितांत अवाचनीय (न पढ़ सकनेवाली—घसीट) लिपिमें लिख देते हैं; अनेक सज्जन पता लिखनेकी अनिवार्यताकी ही उपेक्षा कर पता लिखते ही नहीं। अधिकतर पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्याका ही उल्लेख नहीं करते। परिणामतः कार्यालयको पत्रों तथा मनीआर्डर-कूपनोंमें उल्लिखित निर्देशोंका पालन करनेमें बड़ी असुविधा होती है और ग्राहक महानुभावोंके उद्देश्य-पूर्ति होनेमें अनावश्यक विलम्ब होनेसे उन्हें असंतोष भी हो सकता है। अतएव इन सब असुविधाओं और कार्य-पूर्तिमें अनावश्यक विलम्बसे बचने तथा अपने उद्देश्य-(अभीष्ट-) की समुचित पूर्तिके लिये यह आवश्यक है कि सभी ग्राहक सज्जन पत्र-व्यवहार अथवा मनीआर्डर-प्रेषणके समय अपना पूरा पता सुस्पष्ट, सुन्दर और सुवाच्य अक्षरोंमें—हिन्दी अथवा अंग्रेजीलिपिमें लिखनेका कष्ट करें। साथ ही पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक 'नया ग्राहक' शब्द अनिवार्यरूपसे लिखनेकी कृपा करें। ऐसा करनेसे आपके वाञ्छित अङ्क तथा पत्रोंके उत्तर नियमित, सुरक्षित और सुचारूरूपसे प्राप्त होंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५